जैन-सिद्धान्त-भास्कर

भाग ७ किरण १

THE JAINA ANTIQUARY

VOL. VI. NO. I

Edited by

Prof. Hiralal Jain, M. A., LL. B.
Prof. A. N. Upadhye, M. A., D. Litt.
B. Kamata Prasad Jain, M. R. A. S.
Pt. K. Bhujabali Shastri, Vidyabhushana.

PUBLISHED AT
THE CENTRAL JAINA ORIENTAL LIBRARY
(JAINA SIDDHANTA BHAVANA)
ARRAH, BIHAR, INDIA.

JUNE, 1940

Ac. Gunaratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

जैन-सिद्धान्त-भास्कर के नियम।

१ 'जैन-सिद्धान्त-भास्कर' हिन्दी त्रैमासिक पत्र है, जो वर्ष में जून, सितम्बर, दिसम्बर; और मार्च में चार भागों में प्रकाशित होता है।

२ 'जैन-एन्टीक्वेरी' के साथ इसका वार्षिक मूल्य देशके लिये ४) रुपये और विदेश के लिये डाक-व्यय लेकर ४॥) है, जो पेशगी लिया जाता है। १।) पहले भेज कर ही नमूने की कापी मंगाने में सुविधा होगी।

३ केवल साहित्यसंबन्धी या अन्य भद्र विज्ञापन ही प्रकाशनार्थ स्वीकृत होंगे। मैनेजर, 'जैन-सिद्धान्त-भास्कर' आरा को पत्र भेजकर दर का ठीक़ पता लगा सकते हैं मनीआर्डर के रुपये भी उन्हीं के पास भेजने होंगे।

४ पते में हेर-फेर की सूचना भी तुरन्त उन्हीं को देनी चाहिये।

५ प्रकाशित होने की तारीख से दो सप्ताह के भीतर यदि 'भास्कर' नहीं प्राप्त हो, तो इसकी सूचना जल्द आफिस को देनी चाहिये।

६ इस पत्र में अत्यन्त प्राचीनकाल से लेकर आधुनिक काल तक के जैन इतिहास, भूगोल, शिल्प, पुरातत्त्व, मूर्त्ति-विज्ञान, शिला-लेख, मुद्रा-विज्ञान, धर्म्म, साहित्य दर्शन, प्रभृति से संबंध रखने वाले विषयों का ही समावेश रहेगा।

७ लेख, टिप्पणी, समालोचना—यह सभी सुन्दर और स्पष्ट लिपि में लिखकर सम्पादक, 'जैन-सिद्धान्त-भास्कर' आरा के पते से आने चाहिये। परिवर्त्तन के पत्र भी इसी पते से आने चाहिये।

८ किसी लेख, टिप्पणी आदि को पूर्णतः अथवा अंशतः स्वीकृत अथवा अस्वीकृत करने का अधिकार सम्पादकमण्डल को होगा।

९ अस्वीकृत लेख लेखकों के पास विना डाक-व्यय भेजे नहीं लौटाये जाते।

१० समालोचनार्थ प्रत्येक पुस्तक की दो प्रतियाँ 'भास्कर' ओफिस, आरा के पते से भेजनी चाहिये।

११ इस पत्र के सम्पादक निम्न-लिखित सज्जन हैं जो अवैतनिक रूप से केवल जैन-धर्म के उन्नति और उत्थान के अभिप्राय से कार्य्य करते हैं :—

प्रोफेसर हीरालाल, एम.ए., एल.एल.बी.
प्रोफेसर ए.एन. उपाध्ये, एम. ए., डी. लिट्.
बाबू कामता प्रसाद, एम.आर.ए.एस.
पण्डित के. भुजबली शास्त्री, विद्याभूषण

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

जैन-सिद्धान्त-भास्कर

जैन-पुरातत्त्व-सम्बन्धी त्रैमासिक पत्र

भाग ७ किरण १

सम्पादक

प्रोफेसर हीरालाल, एम. ए., एल.एल. बी.

प्रोफेसर ए० एन० उपाध्ये, एम.ए., डी. लिट्.

बाबू कामता प्रसाद, एम. आर. ए. एस.

पं० के० भुजबली शास्त्री, विद्याभूषण.

जैन-सिद्धान्त-भवन आरा-द्वारा प्रकाशित

भारत में ४) विदेश में ४॥) एक प्रति का १।)

विक्रम-सम्वत् १९९७

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

विषय-सूची

पृष्ठ

१ वादीभसिंह—[श्रीयुत पं० के० भुजबली शास्त्री, विद्याभूषण १

२ हम्मीर, रायबहिय और चन्द्रवाड़—[श्रीयुत दशरथ शर्मा, एम० ए० ... ९

३ हमारे संग्रह के कुछ दिगम्बर प्रतिमा-लेख—[श्रीयुत अगरचन्द नाहटा भँवरलाल नाहटा १२

४ कुछ जैन ग्रन्थों में संगीत-चर्चा—[श्रीयुत बी० राघवन एम०ए०, पी० एच०डी० १९

५ संस्कृत के सांकेतिक अंक—[श्रीयुत पं० नेमिचन्द्र जैन, न्याय-ज्योतिष-तीर्थ ... २२

६ सत्प्ररूपणा-विभाग व वर्गणा-खण्ड-विचार—[श्रीयुत प्रो० हीरालाल जैन, एम० ए०, एल० एल० बी० ... ... २७

७ विविध-विषय–(१) हरिवंशपुराण का रचनास्थान—[श्रीयुत दशरथ शर्मा, एम. ए. ५०

(२) गोमट शब्द पर विचार—[श्रीयुत पं० के० भुजबली शास्त्री ५१

(३) श्रीपुराण—[श्रीयुत पं० के० भुजबली शास्त्री ... ५२

ग्रन्थमाला-विभाग

१ तिलोयपण्णत्ती—[श्रीयुत प्रो० ए० एन० उपाध्ये, एम० ए० ... १०५ से ११२ तक

२ प्रशस्ति-संग्रह—[श्रीयुत पं० के० भुजबली शास्त्री, विद्याभूषण ... १६१ से १६८ तक

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

श्रीजिनाय नमः

जैन-सिद्धान्त-भास्कर

जैनपुरातत्त्व और इतिहास-विषयक त्रैमासिक पत्र

भाग ७ | जून १९४०। ज्येष्ठ वीर नि० सं० २४६६ | किरण १

वादीभसिंह

[लेखक—श्रीयुत पं० के० भुजबली शास्त्री, विद्याभूषण]

आचार्य वादीभसिंह विश्रुत जैन महाकवियों में अन्यतम हैं। आपके वादीभसिंह, अजितसेन एवं ओडेयदेव ये तीन नाम उपलब्ध होते हैं। मेरा अनुमान है कि उल्लिखित इन तीन नामों में ओडेयदेव जन्मनाम, अजितसेन दीक्षानाम और वादीभसिंह पाण्डित्योपार्जित एक उपाधि है। हाँ, आप विद्वत्समाज में पाण्डित्योपार्जित इस उपाधि से ही अधिक विख्यात हैं। साथ ही साथ इस उपाधि से यह भी सिद्ध होता है कि आप एक बहुत बड़े वादी थे। श्रवणबेल्गोलस्थ 'मल्लिषेण-प्रशस्ति' से भी इस बात की पुष्टि होती है।* अष्टसहस्री के टिप्पणकार लघुसमन्तभद्र ने अष्टसहस्री के मङ्गलाचरणगत पद्य पर टिप्पण करते हुए यों लिखा है—"तदेवं महाभागैः तार्किकाकैँरुपज्ञातां श्रीमता वादीभसिंहेन उपलालितामाप्तमीमांसालंचिकीर्षवः.....प्रतिज्ञाश्लोकमाहुः श्रीवर्द्धमानमित्यादि।" इस से पता चलता है कि आचार्य समन्तभद्र की आप्तमीमांसा पर भी वादीभसिंह ने कोई टीका अवश्य बनाई थी। संभव है कि इसके अतिरिक्त कोई स्वतन्त्र मौलिक न्यायग्रन्थ भी आप के द्वारा रचा गया हो। किन्तु अभी तक आपका कोई न्यायग्रन्थ उपलब्ध नहीं हुआ है। स्वरचित 'गद्यचिन्तामणि' से प्रमाणित होता है कि वादीभसिंह पुष्पसेन मुनि के शिष्य थे।†

---

*—सकलभुवनपालानम्रमूर्धावबद्धस्फुरितमकुटचूडालीढपादारविन्दः।
मदवदखिलवादीभेन्द्रकुम्भप्रभेदी गणभृदजितसेनो भाति वादीभसिंहः॥

†—श्रीपुष्पसेन मुनिनाथ इति प्रतीतो दिव्यो मनुर्ह दि सदा मम सन्निधत्ताम्।
यच्छक्तितः प्रकृतिमूढमतिर्जनोऽपि वादीभसिंहमुनिपुङ्गवतामुपैति॥६॥

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

यों तो वादीभसिंह का जन्मस्थान अज्ञात सा है ; फिर भी आपका ओडेयदेव नाम, मद्रास प्रान्तान्तर्गत तमिल प्रदेशस्थ पोलूरु तालुक के तिरुमलै नामक प्राचीन क्षेत्र में वर्तमान समाधि-स्थान, द्राविडसंघ तथा अरुंगल अन्वय ये चारों वादीभसिंह को तमिलप्रान्तीय सिद्ध करने की चेष्टा अवश्य करते हैं। यह तो निर्विवाद है कि वर्तमान मद्रास प्रान्तान्तर्गत तमिल प्रदेश सुप्राचीन काल से द्राविड देश के नाम से विख्यात है। अतः यह मानना अनुचित नहीं होगा कि वादीभसिंह का उक्त द्राविडसंघ इस प्रान्तीय नाम से ही प्रसिद्ध हुआ होगा। क्योंकि जैन एवं जैनेतर पुरातत्त्वविशारद यह प्रकट कर चुके हैं कि दिगम्बर जैन मुनियों में प्रचलित संघ, गण, शाखा आदि में अनेक किसी स्थान के ही द्योतक हैं। जैसे उदाहरणार्थ —माथुरसंघ, पुन्नाटसंघ, नविलूरुसंघ, कित्तूरुसंघ, कोलत्तूरुसंघ, देशीयगण, काणूरुगण और हनसोगे शाखा। यों तो मद्रास प्रॉविंस में प्रचलित तमिल, कन्नड, तेलुगु, तुलु तथा मलयालम् ये पाँचो भाषायें द्राविड भाषा जाति के अन्तर्भुक्त हैं। फिर भी तमिल भाषा को ही द्राविड नाम से पुकारने की प्रथा जनता में आज भी वहाँ पर मौजूद है। अब आपके 'अरुंगल' अन्वय को लीजिये। यह भी तमिल प्रान्त के गुडियपत्तन नामक स्थान की ही ओर मेरा ध्यान आकर्षित करता है। यह एक बहुत प्रसिद्ध एवं प्राचीन स्थान है। सुना है कि आज भी यहाँ पर जैनी और जैनमन्दिर वर्तमान हैं। यों तों संघ, गण, गच्छ और अन्वय आदि प्रायः एकार्थवाची हैं। इसी लिये मुनिसंघों के लिये ये सभी शब्द जहाँ-तहाँ व्यवहृत हुए हैं। परन्तु साधारणतः संघों के भेदों को गण और उपभेदों को गच्छ कहने की परिपाटी प्रचलित है। जैसे —नन्दिसंघे बलात्कारगणे सरस्वतीगच्छे कुन्दकुन्दान्वये। अनेक स्थानों में संघ को गण भी कहा है। जैसे—नन्दिगण, सेनगण, द्रमिल या द्राविडगण। खैर, यह विषयान्तर है। साथ ही साथ मुनिसंघों का इतिहास अभी तक प्रायः अंधकार में विलीन सा है। इसी लिये इस विषय में अभी तक हमारा ज्ञान बहुत ही सीमित है। हाँ, यहाँ पर इतना कह देना आवश्यक है कि द्राविडसंघ नन्दिसंघ का ही एक भेद है*। अतः श्रवणबेल्गोलस्थ मल्लिषेण-प्रशस्ति आदि लेखों में द्राविड़संघ की परम्परा में कुन्दकुन्द, समन्तभद्र, सिंहनन्दी, वक्रग्रीव, श्रीवर्द्धदेव, पात्रकेसरी, अकलंकदेव आदि आचार्य भी परिगणित किये गये हैं।

अब एक बात की शंका हो सकती है कि 'नीतिसार' के कर्त्ता ने यापनीय और द्राविड दोनों संघों को पाँच जैनाभासों में गिनाया है‡। इस सम्बन्ध में श्रीयुत पं० नाथूराम जी

*—श्रीमद्द्रमिलसंघेऽस्मिन्नन्दिसंघेऽस्त्यरुंगलः।
अन्वयो भाति योऽशेषशास्त्रवाराशिपारगः॥ —नगर तालुक का शिलालेख नं० ३९

‡—गोपुच्छिकः श्वेतवासा द्राविडो यापनीयकः।
निःपिच्छश्चेति पञ्चैते जैनाभासाः प्रकीर्त्तिताः॥ —नीतिसार

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

प्रेमी का कहना है कि "जिस प्रकार वर्त्तमान भट्टारकों को हम शिथिलाचारी भ्रष्ट या जैनाभास कहते हैं, यद्यपि ये भी अपने को नन्दिसंघ, बलात्कारगण और कुन्दकुन्दाचार्यान्वयभुक्त बतलाते हैं, उसी प्रकार 'दर्शनसार' के कर्त्ता देवसेन द्राविडसंघ, यापनीयसंघ आदि के मुनियों के आचार देखकर उन्हें जैनाभास कह सकते हैं। क्योंकि इन संघों के साधु महन्तों या भट्टारकों के ढंग पर मठों और मन्दिरों में रहने लगे थे, राजसभाओं में आने-जाने लगे थे, इनके मन्दिरों को जागीरें लगी हुई थीं जिनका ये प्रबन्ध करते थे और तिल-तुषमात्र परिग्रह न रखने के आदर्श से नीचे गिर गये थे।" बल्कि आपने इस विषय में अपने 'वनवासियों और चैत्यवासियों के सम्प्रदाय' इस लेख में विस्तार से विचार किया है।

अस्तु, उपर्युक्त बातों को लक्ष्य में रखकर यह अनुमान करना निर्मूल नहीं कहा जा सकता है कि वादीभसिंह का जन्म तमिल प्रदेश में हुआ था। हाँ, यह बात ठीक है कि इनके जीवन का बहु भाग मैसूर प्रान्त में व्यतीत हुआ था और वर्तमान मैसूर प्रान्तान्तर्गत पोम्बुच्च ही आप के प्रचारक्षेत्र का केन्द्र था। इसके लिये पोम्बुच्च एवं मैसूर राज्य के भिन्न-भिन्न स्थानों में उपलब्ध आप से सम्बन्ध रखने वाले शिलालेख ही ज्वलन्त साक्षी हैं। वादीभसिंह एक राजसम्मानित कवि थे। यह बात मल्लिषेण-प्रशस्ति के सिवाय स्वरचित 'गद्यचिन्तामणि' में स्पष्टतया अंकित है†। इतना ही नहीं महामन्त्री, दण्डाधीश जैसे उच्च राजपदाधिकारी भी आप के अनन्य भक्त थे। खासकर विक्रम, मार, त्रिभुवनमल्ल आदि पोम्बुच्च के तत्कालीन सान्तर वंश के शासक, विष्णुवर्द्धन के महामन्त्री माधव, महाप्रतापी दण्डाधीश पुनीश, सरदार परमादि, श्रेष्ठी जक्कि आदि आप के एकान्त शिष्य रहे*।

जैनधर्म और जैनसिद्धान्त के मर्मज्ञ होने के अतिरिक्त वादीभसिंह तर्क, व्याकरण, छन्द, काव्य, अलङ्कार, कोशादि ग्रन्थों में पूर्ण निष्णात थे। यद्यपि आप संस्कृत, कन्नड, तमिल आदि कई भाषाओं के पारंगत विद्वान् रहे होंगे; परन्तु अभी तक आप की संस्कृत भाषा-बद्ध कृतियाँ ही उपलब्ध हुई हैं। मल्लिषेण-प्रशस्ति आदि से पता लगता है कि आप केवल एक उच्च कोटी के कवि ही नहीं थे। किन्तु एक उद्भट वादी और वाग्मी भी। आप के वादित्वगुण की विद्वन्मण्डली में कितनी धाक थी, इस बात का निदर्शन आप की 'वादीभसिंह' यह उपाधि ही पर्याप्त है। कोप्प का एक शिलालेख आप को 'जैनागमरूपी समुद्र की वृद्धि में चन्द्रमा' बतलाता है। इसी प्रकार बोगदि के एक शिलालेख में आप एक 'बड़े योगी' कहे गये हैं$। सारांशतया वादीभसिंह एक महान् योगी, त्यागी, तपस्वी, वादी,

†—श्रीमद्वादीभसिंहेन गद्यचिन्तामणिः कृतः।
स्थेयादोडेयदेवेन चिरादास्थानभूषणः॥
*—देखें—'जैनसिद्धान्तभास्कर' भाग ६, पृष्ठ ८०—८१
$—देखें—'जैनसिद्धान्तभास्कर' भाग ६, पृष्ठ ८०—८१

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

वाग्मी, कवि और तत्त्वज्ञानी थे। मैं ऊपर लिख चुका हूं कि सामान्य श्रावक से लेकर राजा एवं बड़े-बड़े राजकर्मचारी तक आप के परम भक्त थे। श्रवणबेल्गोल के मल्लिषेणप्रशस्ति* में भी आप के दो विद्वान् शिष्यों का उल्लेख पाया जाता है, जिनके नाम क्रमशः शान्तिनाथ और पद्मनाभ हैं। इनमें पहले की उपाधि 'कविताकान्त' और दूसरे की 'वादिकोलाहल' है। उल्लिखित यह लेख आप ही के एक और विद्वान् शिष्य मल्लिषेण मलधारिदेव का समाधि-मरण-सूचक है और यह विद्वन्मण्डली में 'मल्लिषेण-प्रशस्ति' के नाम से प्रख्यात है। इस लेख में केवल मल्लिषेण की ही नहीं, इनकी गुरुपरम्परा की भी बड़ी प्रशंसा लिखी मिलती है। पोम्बुच्च के नं० ३७ सन् ११४७ के एक स्तम्भलेख में वादीभसिंह की एक विदुषी शिष्या पम्पादेवी का भी उल्लेख मिलता है। यह पम्पादेवी तैलसान्तर की पुत्री, विक्रमसान्तर का भगिनी थी। पम्पादेवी महापुराण की एक अच्छी मर्मज्ञा थी। इससे पता चलता है कि वादीभसिंह केवल सान्तर-राजसभा के ही माननीय गुरु नहीं थे, प्रत्युत अन्तःपुर के भी एक विशिष्ट शिक्षणाचार्य थे।

अब वादीभसिंह के समय के सम्बन्ध में विचार करना है। श्रीयुत टी० एस० कुप्पुस्वामी शास्त्री, प्रोफ़ेसर एस० श्रीकण्ठ शास्त्री, श्रीयुत पं० नाथूराम जी प्रेमी एवं 'संस्कृत साहित्य का संक्षिप्त इतिहास' के लेखक-द्वय वादीभसिंह को दशवीं शताब्दी का विद्वान् मानते हैं। इस समय-निर्द्धारण के विषय में निम्नलिखित दो प्रमाण उपस्थित किये गये हैं :—

(१) भोज राजा (सन् १०१८—५५) के समकालिक कालिदास का एक वचन "अद्य धारा निराधारा निरालम्बा सरस्वती" यह वादीभसिंह के "अद्य निराधारा धरा, निरालम्बा सरस्वती" इस वचन के सदृश है, इसलिये वादीभसिंह भोज का पूर्ववर्त्ती अर्थात् सन् १० वीं शताब्दी का माना जाना चाहिये।

(२) 'यशस्तिलकचम्पू' के २य उच्छ्वास के १२६ वें श्लोक की व्याख्या में व्याख्याकार श्रुतसागर सूरि ने महाकवि वादिराज का एक श्लोक उद्धृत किया है और लिखा है कि वादिराज भी सोमदेवाचार्य के शिष्य थे। तथा सोमदेवाचार्य का "वादीभसिंहोऽपि मदीयशिष्यः श्रीवादिराजोऽपि मदीयशिष्यः" यह पद्य उद्धृत कर वादीभसिंह को वादिराज का गुरु-भाई और सोमदेवाचार्य का शिष्य बतलाया है। सोमदेव ने शक सं० ८८१ (सन ९५९) में अपना यशस्तिलकचम्पू समाप्त किया था और वादिराज ने शक सं० ९४७ (सन् १०२५) में अपने 'पार्श्वनाथचरित्र' को पूर्ण किया था। अतः वादीभसिंह का काल १०वीं शताब्दी होना चाहिये। हाँ, इतनी बात अवश्य है कि उल्लिखित विद्वानों में से किसी ने अपनी रचना में उक्त दोनों प्रमाणों को अपनाया और किसी ने एक ही। उपर्युक्त पहला प्रमाण तो मेरे

*—देखें—लेख नं० ५४ (६७)

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

जानते कोई बलिष्ठ नहीं जँचता। क्योंकि बहुत कुछ सम्भव है कि वादीभसिंह ने ही कालिदास का अनुसरण किया हो। अब रहा २य प्रमाण। इसके सम्बन्ध में श्रीयुत पं० कैलाशचन्द्र जी का कहना है कि 'जब तक उक्त उल्लेख के स्थल आदि का पूरा विवरण नहीं मिलता और अन्य स्थलों से उसका समर्थन नहीं होता तब तक उसे प्रमाणकोटि में नहीं रक्खा जा सकता, क्योंकि दोनों विद्वानों में से किसी ने भी सोमदेव के सम्बन्ध में कुछ भी नहीं लिखा है। तथा वादिराज ने 'न्यायविनिश्चयालङ्कार' के अन्त में दी गई प्रशस्ति में मतिसागर को अपना गुरु बतलाया है और वादीभसिंह पुष्पसेन का स्मरण करते हैं। अतः उपलब्ध प्रमाणों के प्रकाश में हमें तो अकलङ्कदेव के सतीर्थ पुष्पसेन ही वादीभसिंह के गुरु प्रतीत होते हैं और उस दशा में उनका समय ईसा की सातवीं शताब्दी का उत्तरार्द्ध प्रमाणित होता है‡।" पण्डित कैलाशचन्द्र जी ने ऊपर सोमदेव के गुरुत्व के सम्बन्ध में जो शंका उठायी है सो ठीक है, किन्तु आप के कथनानुसार वादीभसिंह अकलङ्कदेव के सतीर्थ, ईसा की सातवीं शताब्दी के पुष्पसेन के शिष्य किसी प्रकार सिद्ध नहीं होते। क्योंकि इस समय-निर्णय के समर्थन में शास्त्री जी के द्वारा दिये गये सभी प्रमाण बहुत ही निर्बल हैं। 'भास्कर' भाग ६, किरण २ में प्रकाशित 'क्या वादीभसिंह अकलंकदेव के समकालीन हैं?' शीर्षक लेख में इस बात पर मैंने यथेष्ट प्रकाश डाला है, अतः उन बातों की यहाँ पुनरावृत्ति करना पिष्ट-पेषण ही होगा।

अब यही विचार करना रह जाता है कि उल्लिखित विद्वानों के द्वारा निर्द्धारित वादीभसिंह के १० वीं शताब्दी का यह समय ठीक है कि नहीं। श्रीयुत स्वर्गीय आर० नरसिंहाचार्य का मत है कि नगर के ४० वें और ३७ वें शिलालेखों से वादीभसिंह का समय ११वीं शताब्दी का उत्तरार्द्ध एवं १२वीं शताब्दी का पूर्वार्द्ध अनुमित होता है*। मैंने 'भास्कर' भाग ६, किरण २ में प्रकाशित 'क्या वादीभसिंह अकलंकदेव के समकालीन हैं?' इस अपने लेख में 'मद्रास व मैसूर प्रान्त के प्राचीन जैन स्मारक' से अजितसेन या वादीभसिंह से सम्बन्ध रखने वाले १० लेखों को उद्धृत किया है। इनमें सब से पहला सन् १०७७ का एवं सब से पीछे का ११७० का है। इन लेखों में वादीभसिंह को कहीं अजितसेन पण्डितदेव, कहीं वादीभसिंह अजितसेन दोनों, कहीं अजितसेन मुनिपति, कहीं अजितसेन भट्टारक एवं कहीं मुनि अजितसेन देव आचार्य लिखा है। साथ ही साथ इन नामों के साथ संघ, अन्वय आदि सभी जगह नहीं दिये गये हैं। फिर भी इन सब नामों को प्रस्तुत वादीभसिंह के ही वाचक मानने में कोई बाधक प्रमाण दृष्टिगत नहीं होता। शिलालेखों के लेखन-क्रम से भी यही बात मालूम होती है।

‡—देखें—'न्यायकुमुदचन्द्र' की प्रस्तावना, पृष्ठ ११२
*—देखें—'जैनसिद्धान्तभास्कर' भाग २, पृष्ठ १५३

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

अस्तु, उल्लिखित शिलालेखों में से १०७७ के प्रथम लेख से उस समय पोम्बुच्च में अजितसेन या वादीभसिंह की वर्तमानता स्पष्ट प्रमाणित होती है। क्योंकि उसमें साफ लिखा हुआ है कि 'पंचकूट जिनमन्दिर के लिये विक्रमसान्तर देवने अजितसेन पण्डितदेव के चरण धोकर भूमि दी। वादीभसिंह की शिष्या पूर्वोक्त विदुषी पम्पादेवी इन्हीं विक्रमसान्तर की बहन थीं, जिनका उल्लेख नं० ३७ (सन् ११४७) के पोम्बुच्च के एक स्तम्भलेख में 'यह अजितसेन पण्डितदेव या वादीभसिंह की शिष्या श्राविका थी'—यों स्पष्ट अंकित है। हाँ, सन् १०९० के २य लेख में यह लिखा है कि 'इस स्मारक को अपने गुरु वादीभसिंह अजितसेन की स्मृति में महाराज मार सान्तरवंशी ने स्थापित किया।' आगे कोई ऐसा लेख दृष्टिगोचर नहीं होता जिससे वादीभसिंह की उपस्थिति स्पष्ट प्रमाणित होती हो। अतः सम्भव है कि कोई-कोई १०९० तक ही वादीभसिंह के जीवनकाल की मर्यादा मानकर १०९० के बाद के लेखों को आप के स्मृति-लेख मान लें। पर जीवन-काल में भी भक्तों के द्वारा अपने माननीयों का स्मारक बनवाना लोकविरुद्ध बात नहीं है। बल्कि आजकल भी इसके एक नहीं, अनेक दृष्टान्त दृष्टिगोचर होते हैं। इससे यह सिद्ध करना मेरा अभीष्ट नहीं है कि वादीभसिंह के नाम के वे सभी स्मारक आप के जीवन-काल में ही स्थापित हुए थे। हाँ, उल्लिखित सन् १०७७ का लेख अगर वास्तव में वादीभसिंह के उपस्थिति-काल का है तो मानना पड़ेगा कि वादीभसिंह ११वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में मौजूद थे। साथ ही साथ नं० १३१ (सन् १११७ ?) और नं० ४९२ (सन् ११२५) के क्रमशः हासन जिला के मुगुलूरु ग्राम एवं श्रवणबेल्गोल के उपलब्ध लेखों में प्रतिपादित पुष्पसेन ही वादीभसिंह के गुरु ज्ञात होते हैं।

इस पर प्रोफेसर एस० श्रीकण्ठ शास्त्री का कहना है कि सन् १०३५ में चालुक्य जयसिंह द्वितीय जगदेकमल्ल के द्वारा वादिरुद्रगण को दिये गये दानसूचक बेलगाँवे के दानपत्र में यह अंकित है कि वादिरुद्रगण बहुत बड़े वादी थे और उन्होंने वाद में अकलङ्क वादिघरट्ट (?) वादीभसिंह, वादिराज आदि को वाद में जीत लिया था। अतः वादीभसिंह का समय ११वीं शताब्दी का उत्तरार्द्ध नहीं हो सकता। वह दानपत्र मेरे सामने नहीं है। खैर, यदि उल्लिखित दानपत्र में प्रतिपादित यह बात वास्तविक भी मान ली जाय तो भी उक्त समय-निर्णय में उससे कोई ऐसा विषम विरोध नहीं दीखता। क्योंकि सन् १०३५ और सन् १०७७ के काल में अधिक अन्तर नहीं है। मुझे तो दानपत्र की बात पर ही शंका होती है। वह शंका अकलङ्क को जीतने की बात को लेकर। पहले इसी बात की जाँच की ज़रूरत है कि यह अकलंक कौन हैं ? अगर भट्टाकलंक माने जायँ तो क्या यह घटना संभवपरक है कि नहीं ? क्योंकि अकलंक देव का समय ७ वीं ८ वीं शताब्दी माना गया है। वादीभसिंह वादिराज आदि के समकालीन किसी प्रसिद्ध दूसरे अकलंक का पता कम से कम मुझे तो नहीं लगता।

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

इस प्रकार वादीभसिंह के काल-निर्णय-सम्बन्धी उपलब्ध सामग्री को विज्ञ पाठकों के समक्ष मैंने रख दिया है। अब इसका अन्तिम निर्णय पाठक स्वयं कर लें। हाँ, इस सम्बन्ध में एक बात का खुलासा करना रह गया है। मैंने क्रमशः 'भास्कर' भाग २, किरण २ और भाग ६, किरण २ में लिखा था कि वादीभसिंह के 'क्षत्रचूडामणि' के अन्त में "राजतां राजराजोऽयं राजराजो महोदयैः। तेजसा वयसा शूरः क्षत्रचूडामणिर्गुणैः॥" यह पद्य अंकित है। मेरे खयाल से पद्यगत 'राजराज' शब्द श्लेषात्मक है और इसमें ग्रन्थकर्ता ने चरित्रनायक जीवन्धर के अतिरिक्त तत्कालीन शासक का भी उल्लेख किया है। यह शासक चोलवंशीय 'राजराज' हो सकता है। चोल राजाओं में इस नाम के दो व्यक्ति हुए हैं। राजराज प्रथम का काल सन् ९८५ से १०१२ तक और द्वितीय का सन् ११४६ से ११७८ तक का है। बहुत कुछ संभव है कि वादीभसिंह अन्तिमावस्था में मैसूर से अपनी जन्मभूमि को लौट आये हों और चोलशासक उक्त राजराज के राज्यान्तर्गत कहीं रह कर इस क्षत्रचूडामणि की रचना कर ग्रन्थान्त में आपने तत्कालीन तत्प्रान्तवर्ती शासक इस राजराज का उल्लेख कर दिया हो। इस मेरे अनुमान को श्रीयुत स्व० आर० नरसिंहाचार्य और श्रीयुत प्रोफेसर एस० श्रीकण्ठ शास्त्री इन दोनों पुरातत्त्वविशारदों ने स्वीकार किया है। परन्तु पूर्वोक्त अपने-अपने निर्द्धारित समयानुकूल आर० नरसिंहाचार्य वादीभसिंह को द्वितीय राजराज का समकालीन एवं प्रोफेसर एस० श्रीकण्ठ शास्त्री प्रथम राजराज का समकालीन मानते हैं। शास्त्री जी का कहना है कि द्वितीय राजराज की अपेक्षा प्रथम राजराज बहुप्रसिद्ध था। पर मेरे जानते यह कोई सबल तर्क नहीं है। क्योंकि ग्रन्थकर्ता का तो प्रायः प्रसिद्ध अथवा अप्रसिद्ध तत्कालीन शासक का उल्लेख कर देने भर ही ध्येय रहता है। अब इस निबन्ध को अधिक न बढ़ाकर वादीभसिंह की कृतियों पर दो शब्द कह दिये जाते हैं।

वादीभसिंह की दो कृतियाँ उपलब्ध हैं। पहली 'क्षत्रचूडामणि' तथा दूसरी 'गद्य-चिन्तामणि'। ये दोनों काव्य हैं। पर पहला पद्यकाव्य और दूसरा गद्य। इन दोनों रचनाओं में महावीर स्वामी के समसमयवर्ती महातेजस्वी एवं क्षत्रियोचितशौर्यगुणसम्पन्न महाराज जीवन्धर की जीवनी वर्णित है। ज्ञात होता है कि वादीभसिंह को आदर्श महापुरुष महाराज जीवन्धर की जीवनी अधिक प्रिय थी। यही कारण है कि आप की दोनों कृतियाँ जीवन्धर-चरित्र-प्रतिपादक ही मिलती हैं। उल्लिखित कृतियों में क्षत्रचूडामणि तो एक खासा नीतिग्रन्थ ही कहा जा सकता है। प्रायः प्रत्येक श्लोक के पूर्वार्द्ध में अभीष्ट चरित्रांश और उत्तरार्द्ध में उसे पुष्ट करने के लिये नीति कही गयी हैं। नीति का पुट देकर कवि ने चरित्रांश को बहुत ही रोचक बनाया है। प्रायः सभी श्लोकों का अन्तिम भाग अर्थान्तरन्यासालंकार से अनुप्राणित है। दूसरी गद्यचिन्तामणि भी काव्योचित माधुर्य्य-सौकुमार्यादि प्राञ्जल गुणों

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

से विशिष्ट एक महत्त्वपूर्ण गद्यकाव्य है। इसके सम्बन्ध में मैं अपनी ओर से कुछ भी न लिखकर श्रीयुत टी० एस० कुप्पुस्वामी शास्त्री के अभिप्राय को ही नीचे उद्धृत किये देता हूं :— "पदलालित्य, श्राव्यशब्दसन्निवेश, निरर्गलवाग्वैखरी, सुगमकथासारावगम, चित्तविस्मापिक-कल्पना, चित्तप्रसादजनक धर्मोपदेश एवं धर्मानुकूल नीति आदि काव्य सुलभ सुन्दरगुण प्रचुर परिणाम में इसमें उपगुम्फित हैं।" हाँ, यह बात माननी पड़ेगी कि वादीभसिंह ने इसमें महाकवि बाण की ही रचना-पद्धति का अनुकरण किया है।

मैं अन्त में विद्वद्वर्य्य कुप्पुस्वामी शास्त्री को धन्यवाद दिये विना नहीं रह सकता हूं कि जिनके असीम प्रयास से ये दोनों अमूल्य जैन साहित्यिक कृतियाँ पहले पहल प्रकाशन में आयीं और मद्रास विश्वविद्यालय के पठनक्रम में प्रविष्ट हुईं*।

---

*—यह निबन्ध श्रीयुत पं० मोहनलाल जी काव्यतीर्थ के द्वारा सिवनी से प्रकाशित होने वाली सानुवाद क्षत्रचूडामणि के लिये ग्रन्थकर्त्ता के परिचय के रूप में लिखा गया है।

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

हम्मीर, रायबहिय और चन्दवाड़

[लेखक—श्रीयुत दशरथ शर्मा, एम० ए०]

विक्रम सम्वत् १३१३ में रचित अणुव्रत-रत्न-प्रदीप के रचयिता लक्ष्मण कवि ने तत्सामयिक चौहानवंशी राजा आहवमल्ल के विषय में निम्नलिखित बातें लिखी हैं:—

(१) वह यमुनातटस्थ रायबहियनगर का शासक था,

(२) उसके पूर्वज यमुनातटस्थ चन्दवाड़ नगर में राज करते थे,

(३) उसने दुष्प्रेक्ष्य म्लेच्छों पर विजय पाई और हम्मीर वीर के मन का शल्य नष्ट किया।[1]

अब प्रश्न यही है कि आहवमल्ल का समसामयिक यह हम्मीर वीर कौन था। प्रो० हीरा लाल जैन ने इसे रणथंभोर का राजा हम्मीर देव समझा है। प्रोफेसर साहब ने यह अनुमान इन शब्दों में किया है[2]:—'आहवमल्ल ने म्लेच्छों अर्थात् मुसलमानों से भी टक्कर ली और विजय पाई तथा किसी 'हम्मीर वीर' की कुछ सहायता भी की थी। संभव है कि ये 'हम्मीर वीर' संस्कृत के हम्मीरकाव्य तथा हिन्दी के हम्मीर रासो आदि ग्रन्थों के नायक 'रणथंभोर' के राजा हम्मीर देव ही हों। अलाउद्दीन खिलजी द्वारा रणथंभोर की चढ़ाई का समय सन् १२९९ ई० माना जाता है। इसी युद्ध में 'हम्मीर देव' मारे गये थे। वर्तमान उल्लेख और लड़ाई के बीच में ४२ वर्ष का अन्तर पड़ता है। यह अन्तर एक ही व्यक्ति के जीवनकाल के लिये कुछ असम्भव नहीं है।'

परन्तु मुझे यह अनुमान ठीक प्रतीत नहीं होता। इसके कारण निम्नलिखित हैं:—

(१) सन् १२५३ अर्थात् सम्वत् १३१० में उलूग खां ने रणथंभोर पर आक्रमण किया। उस समय रणथंभोर का शासक हम्मीरदेव का दादा वाग्भट था।[3] यह बहुत सम्भव है कि अणुव्रत-रत्न-प्रदीप के रचनाकाल अर्थात् सम्वत् १३१३ तक यही रणथंभोर का राजा रहा हो।

(२) हम्मीरमहाकाव्य के वर्णन से प्रतीत होता है कि हम्मीर का जन्म उसके पिता जैत्र सिंह के राज्यकाल में हुआ था।[4] जैत्र सिंह ने सम्वत् १३३९ तक राज्य किया और वह सम्भवतः सम्वत् १३१३ के लगभग रणथंभोर के राजसिंहासन पर आसीन हुआ था।

---

१ भास्कर भा० ६ किरण ३ पृष्ठ १५७ देखें।

२ भास्कर भा० ६ किरण ३ पृष्ठ १५७ देखें।

३ तबकाते नासिरी रैवर्टी-कृत अंग्रेजी अनुवाद, पृष्ठ ८२८।

४ हम्मीर-महाकाव्य, सर्ग ४, श्लोक १३८।

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

अत एव यह मानना असंगत न होगा कि अणुव्रत-रत्न-प्रदीप की रचना के समय रणथंभोर के हम्मीर देव का जन्म भी न हुआ था।

(३) हम्मीर की मृत्यु सन् १२९९ में नहीं बल्कि सन् १३०१ में हुई थी।* पुस्तक का रचनाकाल भी सन् १२५७ नहीं अपि तु सन् १२५६ है। इस प्रकार दोनों घटनाओं में लगभग ४५ वर्ष का अन्तर है। हम्मीरमहाकाव्य के वर्णन से ज्ञात होता है कि हम्मीरदेव अपनी मृत्यु के समय वृद्ध नहीं था। अतः सम्वत् १३१३ में उसकी अवस्था इतनी बड़ी नहीं हो सकती कि कोई राजा उसके मन के शल्य को दूर करने का प्रयत्न करें।

इन सब बातों का विचार करने और प्रसंग को ध्यान में रखते हुए मुझे तो 'हम्मीर-वीर-नट्ठ-सल्लु' के 'नट्ठ' शब्द के स्थान पर 'नद्ध' शब्द अधिक उपयुक्त प्रतीत होता हैं। यदि यह पाठ ठीक माना जाय तो 'हम्मीरवीर' का तात्पर्य दिल्ली के किसी मुसलमान राजा से ही हो सकता है। 'हम्मीर' और 'हम्मीरवीर' शब्द संस्कृत साहित्य में अधिकतर मुसलमान राजाओं के लिए ही प्रयुक्त होते रहे हैं। 'हम्मीर-मद-मर्दन' नाटक ऐसे ही एक हम्मीर के मदमर्दन का वर्णन करता है। सम्वत् १२१० के लगभग रचित 'ललित-विग्रहराज-नाटक' में तुरुष्कराज के लिये 'जगदेकवीर हम्मीर' शब्द प्रत्युक्त किया गया है। अनेक शिलालेखों में इसी प्रकार मुसलमान राजाओं के लिये 'हम्मीर' और 'हम्मीरवीर' शब्दों का प्रयोग देखा गया है। नमूने के तौर पर नीचे ऐसे दो अवतरण दिये जाते हैं जिनमें मुसलमान राजाओं के लिये 'अणुव्रत-रत्नप्रदीप' में प्रत्युक्त हम्मीर-वीर शब्द का ही प्रयोग मुसलमान राजाओं के अर्थ में किया गया है।

(१) मत्वा हम्मीरवीरं निखिलवसुमतीशल्यभूतं प्रभूतं
योग्योऽसौ वीरगोष्ठीनिपुणतरमतिः शत्रुलक्ष्मीभुजंगः।
प्रादाद्राजन्यचूडामणिकिरणगणासंजनिर्द्धूतपादो
भूपस्तस्मै प्रहृष्टो विशदगुणनिधेरासिकादुर्ग्गमुग्रं॥

(२) प्रलयजलधिवेलोल्लोलकल्लोललीलं..... संपिष्टशैलं।
दलितधरणिचक्रं वीरहंमीर चक्रं बहु तृणमकरोद्यः श्रीधरो दुर्ग्गदर्प्पः॥

इनमें पहला अवतरण सम्वत् १२२४ का है और दूसरा चौलुक्य भीम द्वितीय के समय का। इनमें हम्मीरवीर का तात्पर्य स्पष्टतः किसी 'हम्मीर' नामक हिन्दू राजा से नहीं अपि तु यवनराज से है। अणुव्रत-रत्नप्रदीप में भी इसी प्रकार यह शब्द संभवतः किसी हिन्दू राजा के लिये नहीं अपि तु यवन राज सुल्तान नासिरुद्दीन के लिये प्रयुक्त किया गया है। उसने

* हम्मीर-महाकाव्य, भूमिका, पृ० ४७, टिप्पण २०।

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

अनेक बार दोआब के प्रदेश पर आक्रमण किया था और वह उस प्रदेश के हिन्दुओं से तंग आ चुका था। आहवमल्ल सम्भवत उसके प्रबल विरोधियों में मुख्य था। इसलिये कवि-द्वारा उसके लिये 'दुष्प्रेक्ष-म्लेच्छ-रण-रंग-मल्ल' और 'हम्मीर-वीर-मनःनद्ध-शल्य' आाद पदवियों का प्रयुक्त किया जाना ठीक ही है। मैं 'नद्ध' शब्द को ठीक पाठ समझता हूं। सम्भव है कि प्रदीप की किसी अन्य प्रति में यही पाठ मिले। प्रोफेसर साहब की प्रति भी बहुत पुरानी और यत्र-तत्र फटी हुई है। वे कृपया देख कर लिखें कि पाठ असंदिग्ध रूप से 'नष्ट' ही है या नहीं। चन्दवाड़ अभी काफी प्रसिद्ध स्थान है। राजपूताने के अच्छे नक्शों में, फिरोजाबाद से कुछ मील दक्षिण, यमुना के किनारे चन्दवाड़ की स्थिति अब भी पाई जाती है। राजा जयचन्द इसी स्थान पर शाहाबुद्दीन गोरी-द्वारा परास्त किया गया था और यहीं यमुना के निर्मल जल में उसकी इह लीला समाप्त हुई थी।

मुझे इस बात में सन्देह है कि रायबा स्टेशन रायबद्दिय माना जा सकता है या नहीं। रायबद्दिय यमुना के तट पर था और रायबा यमुनातटस्थ नहीं है। इस नगर की ठीक स्थिति के लिये अभी और खोज की आवश्यकता है।

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

हमारे संग्रह के कुछ दिगम्बर प्रतिमा-लेख

[सं०— श्रीयुत अगरचन्द नाहटा, भँवरलाल नाहटा]

इतिहास में शिलालेखों, ग्रन्थप्रशस्तियों और पुष्पिकालेखों का स्थान अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। हर्ष का विषय है कि जैनेतरों की अपेक्षा जैन समाज इन सामग्रियों से आज भी विशेष समृद्ध है किन्तु हमारे रत्न जो हमारी ही मिट्टी में कुचले जा रहे हैं उन्हें प्रकाश में लानेवालों का अभाव सा देखा जाता है। फिर भी श्वेताम्बर-समाज में इस ओर अच्छा प्रयत्न हुआ है, जिसके फलस्वरूप हजारों महत्त्वपूर्ण प्रतिमालेख प्रकाश में आ गये हैं और उनसे इतिहास-लेखकों को बड़ी भारी सहायता मिलती है। उसमें केवल जैन समाज के लिये ही नहीं किन्तु भारतवर्ष के इतिहास की भी बहुत प्रामाणिक सामग्री पाई जाती है।

श्वेताम्बर समाज के लेखसंग्रहों में स्वर्गीय बाबू पूरणचन्द्र जी नाहर के ३ खण्ड, जैनाचार्य श्रीबुद्धिसागर सूरि जी के दो भाग, पुरातत्त्वाचार्य श्रीजिनविजय जी के २ भाग, मुनिराज श्रीविद्याविजय जी संपादित १ भाग, मुनिराज श्रीजयन्तविजय जी के आबू के शिलालेख, इतने स्वतंत्र ग्रन्थों में एवं देवकुलपाटक, सूरत नो स्वर्णयुग आदि ग्रंथों में एवं अनेक मासिक पत्रों में श्वे० प्रतिमालेख प्रकाशित हैं। पर जब हम दिगम्बर-समाज की ओर ध्यान देते हैं तो बड़ा दुःख होता है कि सैकड़ों की संख्या में विद्वान् और बड़े-बड़े धनी-मानियों के विद्यमान होते हुए भी साहित्यसंसार में पिछड़े हुए प्रतीत होते हैं। दि० प्रतिमा-लेख-संग्रहों में प्रो० श्री हीरालाल जी जैन, बाबू कामताप्रसाद जी और एक छोटा सा संग्रह बाबू छोटेलालजी जैन का ही अद्यावधि प्रकाश में आया है। ब्र० श्रीशीतलप्रसादजी के प्राचीन जैनस्मारक ४ भागों में कुछ लेख छपे हैं पर अभी तक यह प्रयत्न नगण्य सा है और इसी लिए दिगम्बर विद्वान् भट्टारकों का इतिहास अधिक तिमिराच्छन्न है। दि० इतिहास के नाना पहलुओं पर तभी प्रकाश पड़ेगा कि जब साधन संगृहीत होंगे; अतः दिगम्बर-समाज और विशेष कर विद्वानों से हमारा अनुरोध है कि वे इस ओर शीघ्र ध्यान देकर अपने-अपने स्थानीय मन्दिरों के प्रतिमालेखों को संग्रह करके 'जैनसिद्धान्तभास्कर', 'अनेकान्त' आदि पत्रों में प्रकाशित करें और अच्छी संख्या हो जाने पर उन्हें स्वतन्त्र ग्रन्थ के रूप में प्रकाशित कर दें।

हमारे संग्रह के एक हस्तलिखित पत्र में "वांसखोह" नगर के दिगम्बर जिनबिम्बों की प्रतिष्ठा के लेखों का मसविदा है। जिसमें सं० १७८३ वैसाख बदि ८ को जो प्रतिमाएं

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

प्रतिष्ठित हुई थीं उनके छोटी-बड़ी प्रतिमा के अनुसार एक ही आशय के संक्षिप्त विस्तृत लेख लिखे हैं। पाठकों की जानकारी के लिये उस पत्र की नकल यहां देते हैं:—

वृहत् संवत्

संवत्सरे वह्निवसुमुनींदुमिते १७८३ वैशाखमासे कृष्णपक्षे अष्टमीतिथौ बुधवारे श्रवण-नक्षत्रे वांसषोह नगरे अंबावती सामी कुछाहा गोत्रीय महाराजाधिराज श्रीजयसिंघजित्तत्सामंत कुंभाणी गोत्रीय राजि श्रीचूहड़सिंह जी राज्ये प्रवर्त्तमाने श्रीमूलसंघे नंद्याम्नाये बलात्कारगणे सरस्वतीगच्छे कुंदकुंदाचार्या न्वये भट्टारक श्रीजगत्कीर्तिस्तत्पट्टे भट्टारकश्रीदेवेन्द्रकीर्तिस्तदाम्नाये खंडेलवालान्वये लुहाड़्यागोत्रे साह श्रीरामदासजी तद्भार्या रायवदे तत्पुत्रसघभारयोग्यः श्रीजिनमतोद्योतकः संगही जी श्रीहृदयरामजी तद्भार्यास्तिस्रः प्रथमा केसरिदे द्वितीया ल्होड़ी तृतीया गूर्जरि तत्पुत्रास्त्रयः प्रथम चि० श्रीखुश्यालचन्द द्वि० सेवाराम तृ० शंभूराम एतैर्युक्तस्तेन संघही श्रीहृदयरामेण बिंबप्रतिष्ठा कारिता।

मध्य संवत्

संवत् १७८३ वैशाख बदि ८ बुधवारे श्रवणनक्षत्रे वांसषोह नगरे कुंभाणी गोत्रीय राजि श्रीचूहड़सिंहजी राज्ये प्रवर्त्तमाने श्रीमूलसंघे भट्टारक श्रीदेवेन्द्रकीर्तिस्तदाम्नाये खंडेलवालान्वये लुहाड्या गोत्रीय साह श्रीरामदासजी तत्पुत्रः संगहीजी श्रीहृदयरामजी तेन बिंबप्रतिष्ठा कारिता।

जघन्य संवत्

संवत् १७८३ वैशाखमासे कृष्णपक्षे अष्टमीतिथौ वांसषोहनगरे भट्टारक श्रीदेवेन्द्रकीर्ति-स्तदान्वये लुहाड़्या गोत्रीय संगहीजी श्रीहृदयरामजी तेन बिंबप्रतिष्ठा कारिता।

अतिजघन्य

संवत् १७८३ वैशाख वदि ८ प्रतिष्ठा कारिता

अति जघन्य जघन्य

संवत् १७८३ प्रतिष्ठित

श्वेताम्बर लेखसंग्रहों में भी कितने ही दि० लेख प्रकाशित हुए हैं। उन्हें भी संग्रह करके एक साथ प्रकाशित करने से इतिहास के अभ्यासियों को विशेष सुविधा मिलेगी। हमने लगभग २००० जैन प्रतिमालेखों का संग्रह किया है, उनमें जितनी सामग्री अभी हमारे पास है उनमें से दिगम्बर प्रतिमालेखों को एकत्र करके इस लेख में प्रकाशित करते हैं। सत्यता के नाते हमें एक बात का स्पष्टीकरण करना पड़ता है कि हमारे अवलोकन में जितने दि० लेख आये हैं, उनमें प्रायः अशुद्धियों का आधिक्य है। कइयों की तो बिना मात्रा की भद्दी लिखावट और भाषा भी अव्यवस्थित है, श्वेताम्बर लेख अपेक्षाकृत उनसे बहुत अच्छे

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

सुवाच्य और सुव्यवस्थित पाये जाते हैं। फिर भी इन लेखों में कितने ही लेख अनेक दृष्टियों से महत्त्वपूर्ण हैं। आशा है कि हमारा यह संग्रह इतिहासप्रेमियों को उपयोगी होगा।

(१)

सं० १५३७ वर्षे वैशाख सुदि १४ रवौ खंडेलवाल संतानि रासमढत्रं विमल रासमि (?)

(२)

सं० १४९३ माघ सुदि १० नुत दिने भट्टारक श्रीदेवेन्द्रकीर्ति सा। विसेरो (?) भार्या पेम्हि दे पुत्र त्रिभू केन।

(३)

भ० श्री ३ कनक। २ श्री धर्मकीर्ति ३ मदे

(४)

सं० १२८७ वर्ष फाल्गुण बदि ३ शुक्रे मण्डलाचार्य श्रीललितकीर्तिण० पटा नदिभा पा जा। ल्हरा ऋषि पूर्व्वी धियाः पुत्रेण नावृ (?)

(५)

सं० १७९४ मी माह सुद १३ माराठ नगरे मूल भ पा मलव (?) सरस्वती भवे पा श्री मट्टेडका गाघत द्वरं आ ग त स की ति त दा म त भी प क.....

(६)

सं० १३५७ फागुण सुदि ३ श्री मूलसंघ खंडेलवालान्वये

(७)

सं० १६७६ मूलसंघे भ० रत्नचन्द्रोपदेशेन सीखप्प पा भाणिक भ० पाचछीसुत पदारथ भार्या दत्तां सुत नोवा हेमा रत्ना प्रणमति

(८)

सं० १५४८ वर्षे वैशाख सुदि ५ श्रीमूलसंघे बादल जोत शिष्य गी वा अ.....करापित

(९)

सं० १५४७ वैशाख सु० ७ काष्टासंघे गुणभद्र अभयभद्र

(१०)

सं० १६३७ वर्षे वै० व० १८ श्रीमूलसंघे भ० श्रीगुणकीर्त्युपदेशात् ब्र अलवा भा० शहा सु० कदूवा ना क र ठा .....प्रणमति

(११)

सं० १५२९ वर्षे वैशाख सुदि ७ बुधे श्रीमूलसंघे भट्टारक श्रीसिधकीर्तिदेव। गोल। .....सा ग रा ल कु भार्या लखज.....।

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

(१२)

मूलसंघे श्रीभुवनकीर्ति आदेशात् १२३४ (दो लेख)

(१३)

संवत् १७९४..... .. श्रीमूलसंघे ?..... ।

(१४)

सं० १५४९ मूलसंघे।

(१५)

श्रीमूलसंघे बलात्कारगणे।

(१६)

संवत् १४९२ वर्षे वैशाष बदि १० गुरु श्रीमूलसंघे सरस्वतीगच्छे नंदिसंघे ० बलात्कार-गणे भट्टारक श्रीपद्मनन्दिदेवान् तत्पट्टे श्रीशुभचन्द्रदेवान् ततभ्राता श्रीसकलकीर्ति उपदेशात् हुंबड़ न्याति ऊत्रेश्वर गोत्रे ठा० लोंबा भा० फह० श्रीपार्श्वनाथ नित्यं प्रणमति सं० तेजाः टोई श्रा० ठाकरसी हीरा देवा मूडलि वास्त० प्रतिष्ठिता ॥

(१७)

संवत् १९(?४)७३ वरषे माघ सुदि ९ म (मू) ल सींघ भटारिष जी श्रीधरमचन्द दव साह जी श्री भरवर राम पाटणी जी त परणमंत सहा अमरराजै श्रीअमायसिंघ जी।

(१८)

संवत् १४५७ वीरष सुदि ७ श्रीमूलसंसीघे भटारीष जी श्रीधरमचंद दव साह वेखतरा पाटणी तीने परणमंते सहर गव गंगदुणी रा.....

(१९)

सं० १५४८ वर्षे वैसाख सुदि ३ श्रीमलतन टरक..... स ट क ब र जी पा प रावल नित्य प ण म त (ऐसे कई लेख हैं)

(२०)

सं० १६३४ श्री मूल संघे . ...

(२१)

संवत् ११५५ ड।। मटद वि ५ संघे श्रीदेवसेन संघ्मद वरु फा म स व दा दुसा ..... जागवौन कारितं सघारकट गृहे के वं जिनालयंमि (?)

(२२)

संवत् १५३१ वर्षे फागुण सुदि ५ श्रीमूलसंघे भ० श्री जिणचन्द श्रीसिंहकीर्तिदेवा प्रतिष्ठितं ॥ श्रीआगमसिरि चुल्लकी कमी सहित श्रीकलिकुंडयंत्र कारापितं ॥ श्रीकल्याणं भूयात् ॥

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

(२३)

सं १३४९ मू संघे वारु पीरोंहत देव।

(२४)

संवत् १५४२ वर्षे ज्येष्ठ सुदि ८ शनौ भ० श्रीजिनचंद्र रा भ० श्रीज्ञानभूषण सा० ऊहड़ भा०.....सु० नारायण

(२५)

सं० १५४० वर्षे वैशाख सुदि १० बुध श्रीकाष्टासंघे भ० श्रीसोमकीर्ति प्र० भट्टेउ राजा० कामिक गोत्रे सा० ठाकुरसी भा० रूषी पुत्र योधा प्रणमति

(२६)

सं० १६८३ श्री काष्टा संघे भ० विजयप्रभ ..... अग्रवाल मीत्भ गोत्रे रावदास प्रणमात।

(२७)

संवत् १५२७ वर्षे वैशाख बदि ११ बुधे श्रीमूलसंघे भ० श्रीसकलकीर्तिस्तत्य० भ० श्री भुवनकीति उपदेशात् ह्० बुध गोत्रे व्य० माहव भार्या झबकू सुत आसा भार्या राजू। भ्रातृ सूरा भार्या गोमति मातृ शिवा भार्या महिगल दे सुत धरमा कारापित श्रीपार्श्वनाथ जिनेन्द्र नित्य प्रणमति।

(२८)

श्रीमूलसंघे भट्टारक शुभचन्द्रतच्छिष्या बाई डाही नित्यं प्रणमति॥

(२९)

संवत् १५९३ श्रीमूलसंघे मंडलाचार्य श्रीधर्मनंदि० आम्न्याये साधारणमल मागाणी भा० रेणा दे नित्यं प्रणमति

(३०)

सं० १५९६ वर्षे फा० बदि २ सोमे श्रीकाष्टासंघे न नरसिंघपुरा ज्ञातीय नागर गोत्रे म० रत्न सी भा० लीला दे पुत्र मह। राजपाल म० लेहआ म० राजपाल भार्या राजल दे पुत्र मघा राका.....नित्य प्रणमति म० श्रीविश्वसेन प्रतिष्ठाः

(३१)

संवत् १६८८ वर्षे फागुण सुदि ८ शनिवासरे श्रीकाष्टासंघे माथुरान्वये पुष्करगणे तदाम्नाये भ० जसकीर्ति देवाः स्तत्पट्टे भ० क्षेमकीर्ति देवा तत श्रीत्रिभुवनकीर्ति भ० सहस्र-कीर्ति तस्य शिष्यणी अर्जिका श्रीप्रताप श्री कुह (रु) जङ्गल देशे सपीदों नगरे गर्गगोत्रे चो० इन्द्र सज्जनस्य भा० ४ प्र० सुखो भार्या तस्य पुत्री दमोदरी च द्वितीय नाम गुरुमुख श्रीप्रताप

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

श्री तस्य शिष्यणी बाई धरमावती पं० राईसिंह द्वितीय शिष्य बाई धरमावती गु० भा० पादुका करापितः कर्मक्षयनिमित्तं शुभं भवतुः ॥
× चो० चूहरमल तस्य भार्या खल्हो तस्य पुत्र ८ सुखू १ मदू २ दुरगु ३ परंगह सरवण पदमा ६ इन्द्रराज ७ लालचन्द ८ ×

(३२)

संवत् १५४८ वर्षे वैशाख सुदि ३ श्रीमूलसंघे भट्टारख श्रीमानचन्द्र देव..... प्रणमति

(३३)

सं० १५४८ वैशाख सु० ५ मूलसंघे सेणगण पंकूरगणे भटा सोमसेण शष्य (? शिष्य) राजसेण उपदे खंडेलवालान्वये गगलल गोत्रे सा० उभाला भार्या.....

(३४)

अजितनाथ श्रीमूलसंघे खरहथ प्रणमति

(३५)

सं० १६३७ वर्षे फागुण सु० १० श्रीमूलसंघे भ० गणकीर्त्युपदेशात् सा०.....पणमति...

(३६)

सं० १५४८ वर्षे वैशाख सुदि ३ श्रीमूलसंघे भट्टारकजी श्री ....

(३७)

सं० १८२६ वैशाख सुदि ६ मूलसंघे भट्टारक सुरेन्द्रकीर्ति सं० मंदला० लम गोत्र कासवारा मस्थ भाना

(३८)

संवत् १४५७ वर्षे वैशाख सुदि ७ श्रीमूलसंघे भट्टारक जी धरमचंदर

(३९)

सं० १५१३ श्री काष्टासंघे भ० वरइ तियशः खेता सा भा० गांगीपुत्र तिलू नित्य प्रणमति

(४०)

सं० १५२९ वर्षे वैशाख सुदि० ७ दिने मूलसंघे भट्टारक श्रीसिंघकीर्ति देव.....

(४१)

सं० १५२२ वर्षे माघ सु० १३ बुध श्रीमूलसंघे भट्टारक श्री सिंघकीर्ति देवा सा० कल्हा पु० घाट.....प्रणमति।

(४२)

सं० १५१३ व० वै० सु० ५ शु० श्रीकाष्टासंघे भटेवरी पं० जेसा भा० गविति पुत्र टस। भाटा टाउड़ीरा प्रणमति।

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

(४३)

सं० १५७५ माह बदि ५ गुरौ श्रीमूलसंघे भ० श्रीविजयकीर्ति श्रे० जिणदास कान्हा

(४४)

संवत् १४५७ वर्षे वैशाख सुदि ७ श्रीमूलसंघे भट्टारकजी श्री धरमचन्दर साह वखत राम पाटणी

(४५)

सं० ११५५ जेठ वदि ५ सोम श्री देवसेनसंघ देवइमे मञ्चवदात पासनाथ बिंब कारितं

(४६)

सं० १५५७ वर्षे फागुण सुदि द्वितीया शुक्रवारे रेवती नक्षत्रे सा... ..... श्रीचारित्र भूषणवराः स्वर्गं जग्मुः ॥तत्पादपादयुगलमिदम् ॥ चिरंनंदतात् तन्नाम्नवर भुवि ॥

(४७)

संवत १५४७ वर्षे वैशाख सु० ३ सोमे हुंबड़ ज्ञा० श्रे० तिला भा० हर्षू पु० श्रे० लाला भीमा नाथादयस्तेषु लालाकेन भा० रुक्मिणि पु० सिंघा बाघादि कुटुंबयुतेन स्वश्रेयसे श्री संभवनाथबिंबं कारितं प्रतिष्ठितं श्रीमूलसंघे भ० श्रीज्ञानभूषण मूडहिटीवास्तव्य ॥श्री ॥

नोट—यों तो भवन में भी बहुत से दिगम्बर जैन प्रतिमालेख संगृहीत हो सुरक्षित हैं और उन्हें यथावकाश शुद्धरूप में प्रकाशित कर देने का विचार भी बहुत दिनों से है। पर अपने समाज का रुचि-वैचित्र्य देखकर ऐसी-ऐसी चीजों को प्रकाशित करने में भय मालूम होता है। इसका ताजा उदाहरण भवन से प्रकाशित एक छोटा सा "प्रतिमालेख-संग्रह" ही पर्याप्त है जो कि भास्कर में धारावाहिक-रूप से बहुत दिनों तक प्रकाशित होता रहा। खेद की बात है कि इतनी कम कीमत की इस आवश्यक पुस्तक की आज तक दस-पाँच प्रतियाँ भी नहीं बिकीं। ऐसी अवस्था में कोई संस्था किसी भी ऐतिहासिक प्रकाशन का कार्य किसके भरोसे अपने हाथ में लेगी! खैर, नाहटा बन्धुओं का यह "हमारे संग्रह के कुछ दिगम्बर जैन प्रतिमा-लेख" इसलिये यहां प्रकाशित किये जा रहे हैं कि इन श्वेताम्बर बन्धुओं के प्राक्कथन से दिगम्बर-समाज कुछ शिक्षा ग्रहण करे।

—के० भुजबली शास्त्री

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

कुछ जैन ग्रन्थों में संगीत-चर्चा

[लेखक—श्रीयुत वी० राघवन, एम. ए., पी.-एच. डी.]

'स्थानांग सूत्र' जैन धर्म-ग्रन्थ है। अभयदेव ने संस्कृत में उसकी टीका की है। ग्रन्थ और टीका, दोनों ही, आगमोदय-समिति-सिरीज की संख्या ३ में प्रकाशित हुए हैं। टीका से पता चलता है कि 'पूर्वगतस्वरप्राभृत' नामक जैनग्रन्थ में भी संगीत-विद्या की चर्चा की गई है। टीका के ३९५ वें पृष्ठ में कहा गया है कि 'स्वरप्राभृत' में उन स्वरों का उल्लेख किया गया है, जिनसे २१ मूर्च्छनाओं की रचना होती है। इस स्थान में भरत और वैशाखिल का भी उल्लेख किया गया है।

टीका में संगीत-सम्बन्धी दोषों और गुणों के विषय में बतलाया गया है। उन दोषों की चर्चा की गई है, जो त्याज्य हैं, और उन गुणों के बारे में बतलाया गया है, जिनकी प्राप्ति आवश्यक है। दोष ६ हैं—भीत, द्रुत, रहस्य, उत्ताल, काकस्वर और अनुनास। 'भीत' से थर्राने, 'द्रुत' से जल्दबाजी, 'रहस्य' से धीमी आवाज, 'उत्ताल' से ताल से हटने, 'काकस्वर' से आवाज़ में कड़ापन, रुखाई के होने और 'अनुनास' से नाक से शब्द करने का तात्पर्य है।

भीतं त्रस्तमानसम्। द्रुतं त्वरितम्। रहस्यं ह्रस्व-स्वरं लघुशब्दम्। उत्तालं अस्थानतालम्। काकस्वरम् अश्राव्य स्वरम्। अनुनासम्।

इसके बाद गुणों की चर्चा की गई है। गुण दो श्रेणियों में बाँटे गये हैं। पहली श्रेणी के गुण संख्या में आठ हैं—पूर्ण, रक्त, अलंकृत, व्यक्त, अविघुष्ट, मधुर, सम और सुकुमार। पूर्ण वह है, जिसमें सभी स्वर पूर्ण रीति से और शुद्धतापूर्वक उच्चरित हों। राग की भावात्मक विशेषता को स्पष्ट करना, अर्थात् रंग भरना, 'रक्त' कहलाता है। अलंकारों से भूषित संगीत 'अलंकृत' है। साहित्य और स्वर दोनों का स्पष्ट उच्चारण 'व्यक्त' है। 'अविघुष्ट' से उस गुण का बोध होता है, जिससे मही तरह से चिल्लाकर गाने का परिहार किया जाय। 'मधुर' से कोकिल के स्वर की तरह मधुरता का बोध होता है। श्रुति और ताल का सामंजस्य 'सम' है। संगीत में लोच का लाना 'सुकुमार' कहलाता है।

पूर्णं, स्वरकलाभिः। रक्तं, गेयरागेण अनुरक्तस्य। अलंकृतं, अन्यस्वरविशेषाणां स्फुट-शुभानां करणात् ?। व्यक्तम्, अक्षरस्वरस्फुटकरणत्वात्। अविघुष्टं, विक्रोशनमिव यन्न विस्वरम्। मधुरं, मधुरस्वरं कोकिलारुतवत्। समं, तालवंशस्वरादिसमनुगतम्। सुकुमारं, ललितं ललतीवयत्। स्वरघोलनाप्रकारेण शब्दस्पर्शनेन श्रोत्रेन्द्रियस्य सुखोत्पादनाद्वेति। एभि-रष्टभिर्गुणैर्युक्तं गेयं भवति, अन्यथा विडम्बना।

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

केवल वही संगीत, जिसमें ये गुण वर्तमान हों, संगीत का नाम सार्थक करता है। इन गुणों से हीन संगीत संगीत नहीं विडम्बना-मात्र है।

आठवें गुण, 'सुकुमार' की व्याख्या करते हुए अभयदेव ने 'घोलन' का उल्लेख किया है। यह स्वर के गमक की तरह ही कोई चीज है। रत्नाकर' के गमक आदि में इसका उल्लेख नहीं मिलता। अभयदेव ने दूसरी श्रेणी के जो गुण बताये हैं, उनमें भी इसी प्रकार के अपरिचित शब्द मिलते हैं। 'मृदुक' की व्याख्या इस प्रकार की गई हैं—उरःकंठशिरोविशुद्धं मृदुकम्। दूसरा शब्द 'ऋभित' है। इसका तात्पर्य स्वरघोलन के प्रभाव से है यथा—यत्र अक्षरेषु घोलनया, संचरन् स्वरः रंगतीव घोलनाबहुलमित्यर्थः। तीसरा शब्द सप्तस्वर 'सीभर' है : सप्तस्वराः अक्षरादिभिः समा यत्र। 'घोलन' की ही तरह 'सीभर' शब्द से भी हम अपरिचित हैं। शायद इस शब्द से ऐसी रचना का तात्पर्य है, जहाँ साहित्य के शब्द स्वर के अनुकूल और उपयुक्त ही हों।

पृष्ठ ४४९ब में अभयदेव ने 'गेय' और 'वर्णपद' नामक दो सङ्गीत-सम्बन्धी रचनाओं का उल्लेख किया है।

अभयदेव की टीका १०६३ ख्रीस्ताब्द की मानी जाती है।

भद्रबाहुकृत कल्पसूत्र; संस्कृतटीकाकार विनयविजयोपाध्याय। यह पुस्तक जैन पुस्तकोद्धार-फंड-सिरीज की ६१ वीं संख्या में है।

विनयविजय की टीका के ८२ वें पृष्ठ में 'तूण' नामक एक वाद्य यंत्र की और उसके बजानेवालों की चर्चा की गई है। इसी टीका के ८३ वें पृष्ठ में तीन प्रकार के ढोल का उल्लेख किया गया है। यह अंश बहुत रोचक है। इसमें बतलाया गया है कि मृदंग' वास्तव में क्या वस्तु है। उसके अनुसार आजकल जिस वाद्य-यंत्र को हम 'मृदंग' कहकर पुकारते हैं, वह मृदंग नहीं कहा जा सकता। तीन प्रकार के ढोल ये हैं—पणव, मुरज और मृदंग।

पणवो मृत्पटहः। मुरजो मर्दलः। मृदंगः मृण्मयः स एव।

'पणव' उस ढोल को कहते है जिसका आधार मिट्टी का हो और ऊपरी भाग चमड़े का हो। मृदंग की बनावट भी ऐसी ही होती है। 'मृदंग' शब्द से ही यह अर्थ भासित होता है कि वह मिट्टी का बना होता है और इस प्रकार यह शब्द आजकल के मृदंग के लिये लागू नहीं होता।

टीकाकार विनयविजय का समय १७ वीं शताब्दी ख्रीस्ताब्द है।

Ac. Gunratnasuri MS　　Jin Gun Aradhak Trust

जैन पुस्तकोद्धार-सिरीज की ५३ वीं संख्या में हरिभद्रकृत 'आवश्यक वृत्ति' नामक ग्रन्थ प्रकाशित हुआ है। इसपर हेमचन्द्र का टिप्पण है। पृष्ठ २ ब में कई तालवाद्यों का उल्लेख मिलता है; यथा "भम्भा पृथुलमुखढक्काविशेषः।" 'भम्भा' एक प्रकार का 'ढक्का' है। अन्तर यही है कि भम्भा का मुख ढक्का से बड़ा होता है। एक दूसरे प्रकार के ढोल का नाम 'मुकुन्द' है। इनके सिवा 'कर्टिका' 'तलिमा' या 'तिउलिका' तथा कुछ अन्य वाद्यों का भी उल्लेख किया गया है।

हरिभद्र और हेमचन्द्र दोनों का ही समय ११ वीं शताब्दी ख्रीस्ताब्द है।

———

रत्नशेखरसूरि ने श्राद्धप्रतिक्रमण सूत्र पर एक टीका लिखी है। दोनों ही जैनपुस्तकोद्धार-सिरीज में प्रकाशित हुए हैं।

इस टीका के १३३ वें पेज में रत्नशेखर ने लिखा है कि मूल राग ६ हैं—श्रीराग और पाँच दूसरे राग, और भाषा राग छत्तीस हैं। वह संक्षेप में संगीत और नृत्य का वर्णन करता है—७ स्वर, ३ ग्राम, २१ मूर्च्छनाएँ, ४९ तान, ३ मात्रा, ३ लय, ४ रूपक, राग, उपराग, रागांग, भाषांग, क्रियांग और उपांग।

रत्नशेखरसूरि की टीका का समय १४९६ ख्रीस्ताब्द है।

———

अनुयोगद्वार सूत्र—टिप्पणकार मलधारि हेमचन्द्र, आगमोदयसमिति-सिरीज में प्रकाशित।

इस टीका के १२७ff पृष्ठ पर संगीत की चर्चा की गयी है। इसकी बातें 'स्थानांग' पर अभयदेव की टीका में वर्णित बातों से मिलती-जुलती हैं। इसमें 'गोमुखी' या 'काहल' नामक वाद्य-यन्त्र का उल्लेख आया है। 'गोधिका' नामक ढोल का, जिसमें गोधा अर्थात् गोह के चमड़े का प्रयोग होता है, वर्णन आया है। 'गोधिका' का ही दूसरा नाम 'दरदरिका' भी प्रसिद्ध है। 'आडंबर' या 'पटह' नामक ढोल का भी उल्लेख आया है।

मलधारि हेमचन्द्र का समय १२ वीं शताब्दी ख्रीस्ताब्द है।

अनुवादक—त्रिवेणीप्रसाद

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

संस्कृत के सांकेतिक अंक

[संग्राहक – श्रीयुत पं० नेमिचन्द जैन, न्याय-ज्योतिषतीर्थ]

शून्य – गगन, ख, अभ्र, व्योमन्, वियत्, अम्बर, नभस्, आकाश, अनन्त, अन्तरीक्ष, विष्णुपद, पुष्कर, सुरवर्त्मन्।

एक—सुधांशु, निशापति, पृथ्वी, द्विजराज, शशधर, नक्षत्रेश, क्षपाकर, धात्री, क्षमा, सोम, प्रालेयांशु, रजनीकर, हिमगु, मृगाङ्क, कलाधर, रूप, शशि, इन्दु, कु, भूमि, भू, चन्द्र, अब्ज, विधु, इला, उर्वी, निशाकर, प्रभव।

दो—युग्म, दस्र, यम, अश्विन, लोचन, द्वि, द्वय, कर, अश्वि, कृति, अक्षि, नयन, पक्ष, नेत्र, यमल, विभव, दृग्, द्वे, द्वौ, उभौ युगल, दृष्टि, चक्षुस्, ईक्षण, हस्त, मिथुन युतक, द्वैत।

तीन—त्रय, गुण, क्रम, अग्नि, राम, दहन, हुताशन, पावक, त्रि, विश्व, अनल, शिखि, वह्नि, शुक्र, हरनेत्र, पुर, लोक त्रै रत्न, भुवन, ज्वलन, वैश्वानर, तनूनपात्, वर्हि, कृशानु, रोहिताश्व, वायुसख, हिरण्यरेतस्, हव्यवाहन, सप्तार्चिस्, चित्रभानु, वड़वानल, वाडव।

चार—चतुर्, सागर, युग, अब्धि वेद, सिन्धु, कृत, वारिधि, जलधि, उदधि, पयोधि, अम्बुधि, विषधि, गति, कषाय, सलिलाकर, कूपार, पारावार, सरित्पति, अर्णव, जलनिधि, यादःपति, अपांपति।

पांच—इन्द्रिय, विषय, बाण, शर इषु, नाराच, पञ्च, अक्ष, सायक, अशु, भूत, मरुत्, अर्थ, प्रजापति, शस्त्र, व्रत, विषय, तन्तुसायक।

छह—रस, ऋतु, अंग, षट्, अरि अङ्गिरस्, तर्क, जीव, लेश्या, द्रव्य, काय, खर, कुमार-वदन, पद, रिपु, द्विष, द्वेषण, दुर्हृद् सपत्नारि।

सात—भय, अचल, मुनि, गिरि, पन्नग, द्वीप, धातु, व्यसन, तत्त्व, सप्त, नग, भूभृत, क्ष्माधर, अद्रि, शैल, कुभृत्, अग, अश्व, घोटक, भूधर, गोत्र, चक्रवाल, त्रिकूट, शिलोच्चय, नरक, श्रीमुख।

आठ—अष्टन्, नाग, व्याल, गज, सिन्धुर, भुजङ्ग, द्विप, कुञ्जर, इभ, अहि, दन्तिन्, करिन्, वसु, हय, भर्वि,फणिन्, तनु, कर्मन्, वारण, द्विरद, अनीक, स्तम्बेरम, यूथप, पद्मी, यूथनाथ, मदकल, कलभ, करिशावक, स्पर्श।

नौ—नवन्, पदार्थ, केशव, नारायण, प्रतिनारायण, निधि, ग्रह, दुर्ग, गो, अङ्क, खग, खेचर, रन्ध्र, युवा।

दश—आशा, दिक्, ककुभ्, धाता, काष्ठा, हरित्, खशशि, खेन्दु, खभू, खिला, खाब्ज, खचन्द्र, खरूप।

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

ग्यारह—एकादशन्, भव, रुद्र, शिव, ईश्वर, ईश, शूलिन्, क्षितिभू, भुवाब्ज, चन्द्राब्ज, इलाब्ज, चन्द्ररूप, भुवेन्दु, भूरूप, विन्धुरूप, धूर्जटि, भूतेश, शंभु, पशुपति शूलिन्, महेश्वर, शंकर, शर्व, चन्द्रशेखर, सोमेन्दु सोमरूप, इलारूप, गिरीश, पिनाकिन् कपर्दिन्, श्रीकण्ठ, शितिकण्ठ, कपालभृत्, वामदेव, धात्रीभू, हर, भर्ग, त्र्यम्बक, भीम, स्थाणु।

बारह—द्वादशन्, सूर्य, अर्क, चक्रवर्तिन्, दिवाकर, भानु, कामदेव, बहुधान्य, इन, तपन, रवि, नयनभू, नयनेन्दु, दस्राब्ज, दस्ररूप दस्रेन्दु, युग्मेन्दु, युग्मरूप कराब्ज, करेन्दु, हस्तेन्दु, हस्तभू, अक्षिसोम, पक्षकृ, पक्षभू, कर्मसाक्षिन्, जगच्चक्षुस्, लोकबन्धु, दिनमणि, धामनिधि, अंशुमालिन्, अब्जिनीपति, राशि, आदित्य, भास्कर, हरिदश्व, उष्णरश्मि, मार्तण्ड, यमरूप यमकृ, अर्यमन्, अहस्कर, कृतिरूप, दृग्भू, हस्तरूप करभू, लोचनाब्ज, लोचनरूप, ईक्षणेन्दु, ईक्षणरूप, विभवरूप, प्रभाकर, विभाकर, विकर्तन, द्वैताब्ज।

तेरह—त्रयोदशन्, गुणभू, रामभू, दहनकृ, प्रमाथिन्, गुणाब्ज, गुणरूप, अग्निरूप, क्रमरूप, क्रमाब्ज, गुणेन्दु, क्रमेन्दु, रत्नरूप, रत्नभू, रत्नेन्दु पुरेन्दु, पुररूप, भुवनेन्दु, भुवनरूप, भुवनाब्ज, भुवनसोम, लोकेन्दु, लोकरूप, लोकाब्ज, ज्वलनरूप ज्वलनाब्ज, ज्वलनशशिन्, ज्वलनकृ, वह्निभू, रत्नचन्द्र, रत्नसोम, शिखिरूप, शिखिकृ, शिखिभू, वर्हीला, वर्हिभू वर्हिकृ, शुक्लरूप, शुक्लाब्ज, शुक्लभू शुक्लकृ, शुक्लचन्द्र, कृशानुरूप, कृशानुकृ, कृशानुभू, दहनकृ, दहनभू, दहनसोम, दहनेला, दहनक्ष्मा।

चौदह—इन्द्र, शक्र, पुरन्दर, गुणस्थान, मनु, वज्रिण, मघवन्, चतुर्दशन्, वेदभू विक्रम, वेदकृ, वेदेन्दु युगेन्दु, युगरूप, युगशशिन्, युगचन्द्र, चतुरूरूप, चतुर्भू, चतुष्कृ, कृतरूप, कृतकृ, कृतभू, कृताब्ज, कृतशशिन्, कृतचन्द्र, वारिधिरूप, वारिधिभू, वारिधिचन्द्र, वारिधिसोम, जलधिरूप, जलधिकृ, जलधिभू, जलधीला, पयोधीला, वेदेला, अम्बुधीला, उदधीला, मार्गणा, कषायाब्ज, गतीला, वार्धीला, विषधीला अर्णवभू अर्णवकृ, अर्णवरूप, आश्रमभू, आश्रमकृ, आश्रमसोम, विडौजस्, पाकशासन, शुनासीर, शतमन्यु, वासव, सुत्रामन्।

पंद्रह—पंचदशन्, तिथि, अक्षभू, इषुक्षिति, वृष, वाणेन्दु, वाणरूप, शराब्ज, शरेन्दु, अक्षकृ, अक्षसोम, भूतरूप, भूताब्ज, शस्त्ररूप, शस्त्राब्ज शस्त्रभू, शस्त्रकृ, वाणभू, व्रतरूप, व्रतभू, व्रतकृ, व्रतक्ष्मा, व्रतेन्दु व्रतेला, इन्द्रियेला, विषयेला, वाणेला, शरेला, नाराचेला, अक्षीला, अर्थरूप, अर्थभू, अर्थकृ, अर्थेला, अर्थसोम, अर्थशशिन्, अर्थचन्द्र, भूतेन्दु, अर्थेन्दु, वर्णरूप, वर्णेन्दु, वर्णकृ, वर्णेला, वर्णसोम, अशुरूप, अशुकृ, अशुभू, मरुद्भू मरुद्रूप, मरुत्कृ, मरुदिला, मरुत्सोम।

सोलह—षोड़शन्, नृप, रसभू, अङ्गभू, अङ्गकृ रसकृ, रससोम, रसेला, रसेन्दु, अंगेदु, अंगेला, राजा, भूपति, इलापति, नृपति, पृथ्वीपति, चित्रभानु, मेदनीपति, अष्टि, रसाब्ज,

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

रसरूप, जीवरूप, जीवेन्दु, जीवचन्द्र, तर्करूप, तर्केन्दु, तर्कभू, तर्कशशिन्, अरिरूप, अरीला, अरिभू, अरिकू, तर्ककू, द्रव्यरूप, द्रव्यभू, द्रव्यकू, द्रव्येन्दु, कायरूप, कायभू, कायकू, कायेन्दु, खरेन्दु, खरेला, खररूप, खरभू, पदरूप, पदेन्दु, पदकू, पदभू, पदसोम, पदेला, पदत्तमा, पदधात्री, रिपुरूप, रिपुभू, रिपुकू, द्विषरूप, द्विषेला, द्विषभू, द्विषकू, लेश्याभू, लेश्यारूप।

सत्रह—सप्तदशन्, अत्यष्टि, अश्वभू, नगभू, अगभू, अचलभू, भयरूप, भयभू, मुनिभू, गिरिभू, द्वीपभू, धातुभू, व्यसनभू, तत्त्वभू, अद्रिभू, नरकभू, नरकरूप, नरककू, अश्वकू, नगकू, अगकू, अगेन्द्र, अगरूप, अगसोम, अचलसोम, भयसोम, भयेन्दु, भयकू, गिरिरूप, गिरिकू, गिरिभू, गोत्ररूप, गोत्रभू, वाजिरूप, वाजिभू, वाजिकू, चक्रवालेन्दु, अद्रिकू, तत्त्वेन्दु, तत्त्वभू तत्त्वसोम, तत्त्वकू सप्तेन्दु, सप्तरूप, सप्तभू, सप्तकू, श्रीमुखेन्दु, श्रीमुखसोम, श्रीमुखरूप।

अठारह—अष्टादशन्, धृति, नागाब्ज, व्यालेन्दु, भुजङ्गरूप, वसुभू, हयेन्दु, हयरूप, इभेन्दु, अष्टेन्दु, अष्टरूप, हयभू, अष्टभू, व्यालाब्ज, व्यालरूप, वस्विला, तारण द्विपाब्ज, द्विपरूप, द्विपेन्दु, गजेन्द्र, गजरूप, गजैक, तनुरूप, तनुभू, कर्मरूप, कर्मेन्दु, गजेन्दु, गजरूप, गजैक, तनुरूप, तनुभू, कर्मरूप, कर्मेन्दु, कर्मभू, वारणरूप, वारणेन्दु, वारणहिमभू, वारणाब्ज, अहिरूप, अहिभू, अहिकू, कलभेन्दु, कलभैक, कलभरूप, यूथपेन्दु, यूथपरूप, यूथपभू, यूथपकू, स्पर्शरूप, स्पर्शेन्दु, स्पर्शकू, स्पर्शभू, स्पर्शहिमगु द्विरदेन्दु, द्विरदरूप, द्विरदकू, अनीकरूप, अनीकेन्दु, अनीकभू, दन्तिरूप, दन्तिभू, दन्तिकू, दन्तीला, करीला, मर्वीला, फणीला, फणिरूप, पद्मिनीला, जट, दट, दक।

उन्नीस—पार्थिव, गोऽब्ज, अंकेन्दु, अङ्करूप, अङ्काब्ज, खगेन्दु, अङ्कभू, खगाब्ज, रन्ध्राब्ज, रन्ध्ररूप, गोरूप, एकोनविंशति, झक, धक झट, धट, झप, धप, वक, वप, खेचरेन्दु, खेचररूप, पदार्थरूप, पदार्थेन्दु, केशवरूप, केशवभू, नारायणरूप, नारायणसोम, ग्रहरूप, ग्रहभू।

बीस—विंशति, खाश्विं, अभ्रलोचन, खनेत्र, गगनलोचन, व्योमपक्ष, खदस्र, खपक्ष, अभ्रकृति, नख, व्यय, अख, इठ, उठ, ओफ, नफ, नठ, ञख, ङठ, ञर, नभाश्वि, नभकर, नर, नभकृति, नभपक्ष, खकृति, खपक्ष, खविभव पुष्करद्वे, अनन्तचक्षुस्, आकाशदस्र, अर,

इक्कीस—एकविंशति, स्वर्ग, इन्दुनेत्र, चन्द्रनयन, चन्द्रपक्ष, सर्वजित्, भूदस्र, भूयम, भूपक्ष, कुदस्र, अब्जनयन, रूपनयन, रूपनेत्र, रूपयम, कठ, टख, पख, पठ, कफ, स्वर, नाक, त्रिदशालय, सुरलोक, द्यो, दिव, भूहस्त, विबुधालय, अमरलोक, अमरालय, सुरालय, देवलोक, देवालय, निर्जरलोक।

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

बाईस—द्वाविंशति, नेत्रदस्र, नयनयम, खठ, फख, अश्वियमल, नयनाकृति, पक्षाकृति, नेत्रपक्ष, अश्विपक्ष, करयम, यमपक्ष, नेत्रविभव, द्विकर, नयनकर, हस्तपक्ष, यमपक्ष, यमलकृति, यमलपक्ष, रठ, ठख, खर, द्वियम, यमलनेत्र।

तेईस—त्रयोविंशति, क्रमयम, गुणयम, रामपक्ष, रामयम, लोकयम, लोकनेत्र, लोकदृग्, लोककृति, रामकृति, क्रमपक्ष, विश्वनेत्र, पुरनेत्र, पुरनयन, पुरपक्ष, गुणपक्ष, रत्नयम, भुवनद्वय, गठ, डख, डर, गर, बर बठ, बख, गफ, ज्वलनदस्र, ज्वलनपक्ष, दहनकृति, अनलपक्ष।

चौबीस—जिन, सिद्ध, अवतार, वेदपक्ष, युगनेत्र, सागरार्द्धि, कृतपक्ष, वेदनयन, गतिपक्ष, गतिनयन, कषायनयन, युगदस्र, सागरदस्र, अर्णवपक्ष, अर्णवकृति, कृतकृति, घठ, ढर, भख, घफ, सिन्धुदस्र, सिन्धुनेत्र, कषायदस्र।

पच्चीस—पंचविंशति, बाणनेत्र, बाणपक्ष, बाणाकृति, शराकृति, शरपक्ष, शरनेत्र, भूतपक्ष, भूतनेत्र, भूताकृति, भूतदस्र, अक्षपक्ष, सायकाकृति, नाराचनयन, नाराचदस्र अर्थाकृति, अर्थनेत्र, अर्थनयन व्रतपक्ष, व्रतकृति, शख, शठ, शर।

छब्बीस—षड्विंशति, रसनेत्र, रसदस्र, रसयम, अंगकृति, अंगयुगल ऋतुयम, ऋतुनेत्र, ऋतुपक्ष, ऋतुदस्र, चर, तठ, बख, षफ, अरिदस्र, अरिपक्ष, रिपुपक्ष, रिपुकृति, रिपुनेत्र, कायदस्र, कायनेत्र, काययम, काययुगल, खरपक्ष, खरकृति, खरदस्र।

सत्ताईस—सप्तविंशति, भ, नक्षत्र, ऋक्ष, छठ, सख, थर, अश्वनेत्र, अश्वयम, घोटकदस्र, घोटकयम, मुनिनेत्र, मुनिकृति, भयनेत्र, भयपक्ष, भयदस्र, सप्तयम, सप्तनेत्र, भूधरयम, भूभृन्नेत्र, शैलयम, गोत्रयम, नरकयम, नरकदस्र, श्रीमुखनयन, अंगपक्ष, अंगकृति, नगपक्ष, नगदस्र, नगयुगल, पर्वतद्वय।

अट्ठाईस—अष्टाविंशति, सिन्धुरनेत्र, इभनेत्र, इभपक्ष, इभार्द्धि, इभाकृति, तनुयम, कर्मदस्र, वारणयम, वारणनेत्र, अनीकयुगल, हयद्वन्द्व, वसुपक्ष, तनुपक्ष, फणियम, व्यालनेत्र, नागयम।

उनतीस—एकोनत्रिंशत्, गोयम, अंकपक्ष, खेचरयम, गोयुगल, खगनेत्र, खगदस्र, खेचरकृति, रन्ध्रयम, रन्ध्रनेत्र, झर, झठ, ढफ, ग्रहयुगल, ग्रहयम, निधिनेत्र, निधियम, दुर्गनेत्र, दुर्गकृति।

तीस—त्रिंशत्, खरदहन, खगुण, खक्रम, अभ्रगुण, खराम, आकाशाग्नि, आकाशगुण, व्योमगुण।

इकतीस—एकदहन, इन्दुगुण, चन्द्रगुण, चन्द्रराम, टग, कड, पड, कब, कल, टल, कुगुण, कुदहन, भूराम, भूगुण, अब्जगुण, अब्जराम, इलागुण, कुरत्न, भूलोक, पृथ्वीलोक, इलालोक, चन्द्रलोक, शशिलोक, इन्दुलोक, चन्द्रभुवन, शशिभुवन, भूज्वलन, रूपगुण, रूपरत्न, रूपविश्व, रूपानल, क्षमालोक, एकत्रिंशत्।

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

बत्तीस—द्वात्रिंशत्, रदन, दशन, दन्त, यमगुण, दस्रत्रय, युगलगुण, यमदहन, यमाग्नि, यमलोक, यमभुवन, कराग्नि, करवह्नि, नेत्ररत्न, नयनरत्न, नेत्रलोक, अग्निरत्न, करगुण, कररत्न, कर्राम, हस्तगुण।

तेत्तीस—अमर, निर्जर, देव, त्रिदश, विबुध, सुर, दिवौकस्, त्रिलोक, रामगुण, रत्नलोक, भुवनत्रय, लोकत्रय, त्रयस्त्रिंशत्, दहनाग्नि, क्रमरत्न, क्रमपुर, दहनत्रय, गड, बड, बग, लब, बल।

इन संख्या-सम्बन्धी सांकेतिक अंकों का संग्रह गणित-सार-संग्रह, सिद्धान्त-शिरोमणि-(गणिताध्याय), ग्रहलाघव, सिद्धान्त-तत्त्व-विवेक, लीलावती, वीजगणित, विश्वलोचन, अमरकोश और गोलप्रकाश इन ग्रन्थों से किया है। विशेषता यह है कि अजैन ग्रन्थों में तत्त्व शब्द से २५ लिया गया है किन्तु, गणितसार-संग्रह में तत्त्व शब्द से ७ ही लिया गया है।

दूसरा तरीका संख्या निकालने का यह भी है—

कटपयपुरस्थवर्णैः नवनवपञ्चाष्टकल्पितैः क्रमशः। स्वरनञशून्यं संख्यामात्रा-परिमात्तरं त्याज्यम्॥

क्रम से क से झ तक और ट से ध तक इन नौ-नौ अक्षरों को एकादिसंख्याबोधक जानना चाहिये। इसी प्रकार प से म तक पांच और य से ह तक आठ अक्षरों की संख्या भी। स्वर न ञ ये सब शून्य के द्योतक जानना। इस प्रकार शब्दों से संख्या की निष्पत्ति होती है।

ज्योतिषीजी का यह संग्रह अधूरा है, फिर भी इससे अन्वेषक विद्यार्थियों को कुछ न कुछ लाभ होगा ही। इस विषय पर एक गवेषणा-पूर्ण वृहत् लेख प्रकाश में आनेकी आवश्यकता है।

—के० बी० शास्त्री

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

सत्प्ररूपणा-विभाग व वर्गणा-खण्ड-विचार

[लेखक—श्रीयुत प्रो० हीरालाल जैन, एम० ए०, एल० एल० बी०]

षट्खंडागम की प्रथम जिल्द के प्रकाशित होने पर उसके सम्बन्ध में की गई समालोचनाओं में एक दो महत्त्वपूर्ण प्रश्न उपस्थित किये गये हैं, जिन पर यहां पुनः विचार करना आवश्यक प्रतीत होता है। इनमें प्रथम प्रश्न पं० जुगलकिशोरजी मुख्तार का यह है कि—

सत्प्ररूपणा का 'गलाचरण व विषय-विभाग

'सत्प्ररूपणा की जो विषय-सूची दी है वह केवल सत्प्ररूपणा की न हो कर उसके पूर्व के १५८ पृष्ठों की भी विषय-सूची है। अच्छा होता यदि उसे जीवस्थान के प्रथम अंश का विषय-सूची लिखा जाता और सत्प्ररूपणा का जो मुखपृष्ठ दिया है उस पर सत्प्ररूपणा की जगह 'जीवस्थान प्रथम अंश' ऐसा लिखा जाता, क्योंकि, षट्खंडागम का पहला खंड जीवस्थान है, उसी का णमोकार मंत्र मंगलाचरण है, न कि सत्प्ररूपण का'। (अनेकान्त वर्ष २, कि० ३, पृ २०१)

मुख्तारजी की इस सूचना पर सूक्ष्म विचार करने पर भी उक्त विषय में हमें अपनी कोई भूल या त्रुटि ज्ञात नहीं हुई। हमने जो ग्रन्थका नाम दिया है और उसका विषय-विभाग किया है वह मूल ग्रन्थ को ध्यान में रख कर ही किया है। षट्खंडागम की अपेक्षा से 'जीवस्थान का प्रथम अंश' और सत्प्ररूपणा में भेद ही क्या है ? सत्प्ररूपणा ही तो जीवस्थान का प्रथम अंश है। उसी के आदि में मंगलाचरण किये जाने से वह जीवस्थान भर का मंगलाचरण हो जाता है। दूसरे, यथार्थतः तो वह सत्प्ररूपणा का ही मंगलाचरण है। आचार्य पुष्पदन्त ने उस मंगलाचरण को आदि लेकर सत्प्ररूपणा के ही सूत्रों की तो रचना की है। यदि हम इसे आचार्य भूतबलि की आगे की रचना से अलग करलें तो आचार्य पुष्पदन्त की रचना सत्प्ररूपणा मात्र ही तो रह जाती है और उसी का वह मंगलाचरण है। उसके आगे के छह सात सूत्रों में सत्प्ररूपणा का यथोचित स्थान और कार्य बतलाने के लिये चौदह जीव समासों और आठ अनुयोग द्वारों का उल्लेख मात्र किया गया है। धवलाकार ने उन सूत्रों की व्याख्या के प्रसंग से जीवस्थान की उत्थानिका का वर्णन कर डाला और वह भी इतना लम्बा जो अनुवादादि-सहित मुद्रित प्रति के १५८ पृष्ठों में आया, तो क्या इस कारण वह मंगलसूत्र सत्प्ररूपणा का मंगलाचरण ही नहीं रहा या सत्प्ररूपणा के अन्तर्गत हो जाने से जीवस्थान का नहीं रहा ? ग्रन्थों में मंगलाचरण की व्यवस्था तो यही देखने में आती है कि ग्रन्थ के आदि में वह किया जाता है और जो भी खण्ड, स्कन्ध, सर्ग, अध्याय व विषय-विभाग आदि में हो उसी के अन्तर्गत निबद्ध होने पर भी वह समस्त ग्रन्थ का समझा

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

जाता है। समस्त ग्रन्थ पर उसका अधिकार प्रकट करने के लिये उसका एक स्वतन्त्र विभाग नहीं बनाया जाता। इस दृष्टि से सत्प्ररूपणा के आदि में होते हुए भी उस मङ्गलाचरण के समस्त जीवस्थान का अङ्ग बने रहने में कोई आपत्ति तो नहीं होना चाहिये? जीवस्थान ही क्यों, जहां तक ग्रन्थ में सूत्रकारकृत दूसरा मंगलाचरण न पाया जावे तहां तक उस मंगलाचरण का अधिकार समझना चाहिये, चाहे विषय की दृष्टि से ग्रन्थ में कितने ही विभाग क्यों न पड़ गये हों। स्वयं धवलाकार ने आगे कृति अनुयोगद्वार के आदि में आये हुए मंगलाचरण को शेष तेवीस अधिकारों का भी मंगलाचरण माना है। यथा—

कदीए आदिम्हि उत्तस्स पदस्स मंगलस्स सेस-तेवीस-अणियोगद्दारेसु पउत्तिदंसणादो।

उसी कृति अनुयोगद्वार के आदि में आये हुए मंगलाचरण को स्वयं मुख्तारजी ने खींच-तान कर उससे पूर्व के खुद्दाबन्ध और बन्धस्वामित्व खण्डों का भी मंगलाचरण साबित करने का प्रयत्न किया है। तब जीवस्थान के ही आदि अंश सत्प्ररूपणा के प्रारंभ में दिये गये मंगलाचरण को समस्त जीवस्थान का समझने के लिये उसका सत्प्ररूपणा से अलग निर्दिष्ट किया जाना क्यों आवश्यक प्रतीत होता है, यह कुछ समझ में नहीं आता? मुख-पृष्ठ पर सत्प्ररूपणा की जगह 'जीवस्थान प्रथम अंश' ऐसा लिखने से क्या अच्छा होता, उसके विषय आदि पर क्या प्रकाश पड़ता और उससे पाठक क्या समझते? षट्खण्डागम के भीतर ऐसे अज्ञात-कुल-शील शीर्षक के लिये स्थान देना मैं अब भी उचित नहीं समझता। ग्रन्थ की विषय-सूची जो सत्प्ररूपणा की कही गई है वह मूल सूत्रग्रन्थ की अपेक्षा से है। धवलाकार ने आदि से लगा कर १७७ सूत्रों तक की एक ही सिलसिले से टीका की है और स्वयं उसे 'संतसुत्तविवरण' कहा है। चूंकि टीकाकार ने मंगलाचरण व प्रास्ताविक सूत्रों की ही व्याख्या में श्रुतावतार व जीवस्थान की उत्थानिकादि का विस्तार से वर्णन किया है, इसलिये सूची में उन विषयों का स्पष्ट अलग उल्लेख कर दिया गया है। इसमें हमें कोई त्रुटि व सुधार का आवश्यकता अब भी प्रतीत नहीं होती, तथा उक्त आपत्ति सर्वथा निर्मूल ज्ञात होती है।

मुख्तारजी की दूसरी आपत्ति विषय की दृष्टि से कुछ गंभीर है। वे लिखते हैं—

वर्गणा-खंड-विचार

"यहां पर एक बात जरूर प्रकट कर देने की है और वह यह कि प्रस्तावना में 'धवला को वर्गणा-खण्ड की टीका भी बतलाया गया है, परन्तु मेरे उस लेख की युक्तियों पर कोई विचार नहीं किया गया जो सिद्धान्तभास्कर के छठे भाग की पहली किरण में 'क्या यह सचमुच भ्रमनिवारण है' इस शीर्षक के साथ प्रकाशित हो चुका है और जिन पर विचार करना उचित एवं आवश्यक था। यदि उन युक्तियों पर विचार करके प्रकृत निष्कर्ष निकाला गया होता तो वह विशेष गौरव की वस्तु होता। इस समय वह पं० पन्नालालजी सोनी के कथन का अनुसरण जान पड़ता है, जिनके लेख के उत्तर में ही मेरा

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

उक्त लेख लिखा गया था। इस विषय का पुनः विशेष विचार अनेकान्त के गत विशेषांक में दिये हुए 'धवलादि श्रुत-परिचय' नामक लेख में 'वर्गणाखण्ड-विचार' नामक उपशीर्षक के नीचे किया गया है। उस पर से पाठक जान सकते हैं कि उन युक्तियों का समाधान किये वगैर यह समुचित रूपसे नहीं कहा जा सकता कि धवला टीका षट्खण्डागम के प्रथम चार खण्डों की टीका न होकर वर्गणाखण्ड सहित पांच खण्डों की टीका है।"

(अनेकान्त वर्ष ३, किरण २, पृष्ठ २०२)

ग्रन्थ के खण्ड-विभाग का जो परिचय हमने प्रथम जिल्द की भूमिका में दिया है वह मत हमने धवला की उपलभ्य प्रति के सूक्ष्म अवलोकन व युक्ति-संगत अनुमानों द्वारा ही निश्चित किया है। वहां न किसी पूर्व प्रकाशित मत का ही अनुसरण किया गया और न खण्डन, क्योंकि स्थायी ग्रन्थ की भूमिका में सामान्य अवलोकन और विस्खलित स्वल्प सामग्री के आधार पर स्थिर किये गये मत मतान्तरों के खण्डन-मण्डन में पड़ना हमें अभीष्ट प्रतीत नहीं हुआ। किन्तु समालोचक हमारी उक्त समीक्षा को इस कारण विशेष गौरव की वस्तु नहीं समझते क्योंकि उसमें उनके 'लेख की युक्तियों पर विचार नहीं किया गया।' यदि समालोचक भूमिका के 'षट्खण्डागम-परिचय' शीर्षक स्कन्ध को ध्यान से पढ़ते तो उनकी शङ्काओं का समाधान हो जाता और यह भी समझ में आता कि उसमें किसी मत-विशेष का अनुसरण नहीं किया गया है। अस्तु, जब यह वर्गणाखण्ड-विषयक प्रश्न पुनः उठाया ही गया है, तब उस पर हमें पुनः विचार करना आवश्यक हो गया।

क्या वर्गणाखण्ड धवलान्तर्गत नहीं है?

षट्खण्डागम के जो छह खण्डों का परिचय प्रथम जिल्द की भूमिका में दिया जा चुका है उनमें से प्रथम तीन अर्थात् जीवट्ठाण, खुद्दाबंध और बंधसामित्तविचय तथा अन्तिम अर्थात् महाबंध जो स्वतन्त्र पुस्तकारूढ़ है, इन चार खण्डों के विषय में तो कोई आपत्ति नहीं बतलायी जाती। आपत्ति है वेदना और वर्गणाखण्ड के बीच की सीमा के संबन्ध में। मुख्तारजी का मत है कि 'धवला ग्रन्थ वेदना-खण्ड के साथ ही समाप्त हो जाता है, वर्गणाखण्ड उसके साथ में लगा हुआ नहीं है।' उन्होंने अपने इस मत की पुष्टि में जो युक्तियां दी हैं वे संक्षेपतः इस प्रकार हैं:—

१ जिस 'कम्मपयडिपाहुड' के २४ अधिकारों का पुष्पदन्त और भूतिबलि ने उद्धार किया है उसका दूसरा गुणनाम 'वेयणकसिण पाहुड' भी है जिससे उन २४ अधिकारों का वेदना-खण्ड के ही अन्तर्गत होना सूचित होता है।

२ चौबीस अनुयोगद्वारों में वर्गणानाम का कोई अनुयोगद्वार भी नहीं है। अवान्तर अनुयोग के भी अवान्तर भेदान्तर्गत संक्षिप्त वर्गणाप्ररूपणा को 'वर्गणाखण्ड' कैसे कहा जा सकता है?

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

३ वेदनाखण्ड के आदि मंगलसूत्रों की टीका में वीरसेन ने उन सूत्रों को ऊपर कहे हुए वेदना, बंधसामित्तविचय और खुद्दाबंध का मंगलाचरण बतलाया है, और यह स्पष्ट सूचना की है कि वर्गणाखण्ड के आदि में तथा महाबंधखण्ड के आदि में पृथक् मंगलाचरण किया गया है। उपलभ्य धवला के शेषभाग में सूत्रकार-कृत कोई दूसरा मंगलाचरण नहीं देखा जाता, इससे वहां वर्गणाखण्ड की कल्पना गलत है।

४ धवला में जो 'वेयणाखण्ड समत्ता' पद पाया जाता है वह अशुद्ध है; उसमें पड़ा हुआ 'खण्ड' शब्द असंगत है, जिसके प्रक्षिप्त होने में कोई सन्देह मालूम नहीं होता।

५ इन्द्रनन्दि व विबुध श्रीधर जैसे ग्रन्थकारों ने जो कुछ लिखा है वह प्रायः किंवदन्तियों अथवा सुने सुनाये आधार पर लिखा जान पड़ता है। उनके सामने मूल ग्रन्थ नहीं थे, अतएव उनकी साक्षी को कोई महत्त्व नहीं दिया जा सकता

६ यदि वर्गणाखण्ड धवला के अन्तर्गत था तो यह भी हो सकता है कि लिपिकार ने शीघ्रतावश उसका कापी न की हो और अधूरी प्रति पर पुरस्कार न मिलने की आशंका से उसने ग्रन्थ की अन्तिम प्रशस्ति को जोड़ कर ग्रन्थ को पूरा प्रकट किया हो।

(जै० सि० भा० ६ कि० १, पृ०, ४२; अनेकान्त ३, १, पृ०३)

अब हम इन युक्तियों पर क्रमशः विचार करेंगे।

वेयणकसिणपाहुड और वेदनाखण्ड एक नहीं हैं

यह बात सत्य है कि कम्मपयडिपाहुड का ही दूसरा नाम वेयणकसिणपाहुड है और वह गुण नाम भी है क्योंकि वेदना कर्मों के उदय को कहते हैं और उसका निरवशेष-रूप से जो वर्णन करता है उसका नाम वेयणकसिणपाहुड है। किन्तु इससे यह आवश्यक नहीं हो जाता कि समस्त वेयणकसिणपाहुड वेदनाखण्ड के अन्तर्गत ही होना चाहिये। यदि ऐसा माना जावे तब तो छह खण्डों की आवश्यकता ही नहीं रहेगी और समस्त षट्खण्ड वेदनाखण्ड के ही अन्तर्गत मानने पड़ेंगे, क्योंकि जीवट्ठाण आदि सभी खण्डों में इसी वेयणकसिणपाहुड के अंशों का ही तो संग्रह किया गया है और वह भी एक किसी खास क्रम से नहीं। किन्तु सूत्रकारों ने अपना स्वतन्त्रविषय-विभाग-क्रम बनाकर उसके उपयोगी जो सामग्री कम्मपयडिपाहुड के जिन अधिकारों में मिली उसे वहां से उठा कर अपने क्रम में यथास्थान ले लिया है। यह बात जीवट्ठाण की उत्थानिका में, उस खण्ड के विषय में, धवलाकार ने मुद्रित प्रति के १२५ आदि पृष्ठों में स्पष्ट बतला दी है और वह उक्त प्रति की भूमिका में दिये गये मानचित्रों से और भी स्पष्ट हो जाती है। धवलाकार ने स्पष्ट कहा है कि—

'वेदणाकसिणपाहुडमज्झादो अणुलोमविलोमकमेहि विणा जीवट्ठाणस्स संतादि-अहियारा अहिणिग्गया त्ति जीवट्ठाणं जत्थतत्थाणुपुव्वीए वि संठिदं। (सं० प० पृ० ७४)

Ac. Gunratnasuri MS　　Jin Gun Aradhak Trust

अर्थात् वेदनाकसिणपाहुड के मध्य से किसी आगे-पीछे क्रम के विना ही जीवस्थान के संतादि अधिकार निकले हैं. इस कारण जीवस्थान यत्रतत्रानुपूर्वी से स्थापित हुआ है। यही बात और खण्डोंके विषय में भी कही जा सकती है। दूसरा खण्ड खुद्दाबंध पांचवें अधिकारबन्धन के एक विभाग से निकला है। उसी बंधन के अन्य-अन्य विभागों से तीसरा खण्ड बंधस्वामित्व व छठवां खण्ड महाबंध निकला है। इस प्रकार समस्त वेयणकसिण-पाहुड को केवल नाममात्र के सादृश्य के कारण वेदनाखण्डान्तर्गत नहीं कहा जा सकता। यह केवल हमारी ही कल्पना नहीं है किन्तु धवलाकार ने स्वयं वेदनाखण्ड को महाकम्मपयडी पाहुड समझलेने के विरुद्ध सतक कर दिया है। वेदनाखण्ड के आदि के मंगल के निबद्ध अनिबद्ध का विवेक करते समय वे कहते हैं:—

'ण च वेयणाखंडं महाकम्मपयडिपाहुडं, अवयवस्स अवयवित्तविरोहादो'

अर्थात् वेदनाखण्ड महाकर्मप्रकृति प्राभृत नहीं है, क्योंकि अवयव को अवयवी मान लेने में विरोध पड़ता है। यदि महाकर्मप्रकृति प्राभृत के चौबीसों अनुयोगद्वार वेदनाखण्ड के अन्तर्गत होते तो धवलाकार उन सब के संग्रह को एक अवयव क्यों मानते? इससे बिल्कुल स्पष्ट है कि वेदनाखण्ड के अन्तर्गत उक्त चौवीसों अनुयोगद्वार नहीं हैं।

चौबीस अनुयोगद्वारों में वर्गणा नाम का कोई अनुयोगद्वार नहीं है, यह बिल्कुल सत्य है, किन्तु किसी उपभेद के नाम से वर्गणाखण्ड नाम पड़ना भी कोई असाधारण घटना तो नहीं कही जा सकती। यथार्थतः अन्य खण्डों में वेदनाखण्ड को छोड़ कर और शेष सब खण्डों के नाम या तो विषयानुसार कल्पित हैं, जैसे जीवट्ठाण, खुद्दाबंध, महाबंध या किसी उपभेद के नामानुसार हैं, जैसे बंधस्वामित्वविचय। उसी प्रकार यदि वर्गणा नामक उपविभाग पर से उसके महत्त्व के कारण एक विभाग का नाम वर्गणाखण्ड रखा गया हो तो इसमें कोई आश्चर्य नहीं होना चाहिये। चौवीस अधिकारों में जिस अधिकार या उपभेद का प्रधानत्व पाया गया उसी के नाम से तो खंडसंज्ञा की गई है, जैसा कि धवलाकार ने स्वयं प्रश्न उठाकर कहा है कि 'कृति, पास, कर्म और प्रकृति के प्ररूपण होने पर भी उन सब के नाम से खण्डसंज्ञा न रख कर प्रधानता की अपेक्षा से केवल तीन खण्ड किये हैं। शेष में प्रधानता नहीं पायी जाती जैसा उनके संक्षेप प्ररूपण से जाना जाता है। मुख्तारजी इसी संक्षेप प्रिरूपण की दुहाई देकर वर्गणा को खण्डसंज्ञा से च्युत करना चाहते हैं। पर संक्षेप और विस्तार आपेक्षिक शब्द हैं, उनका प्रकृत में उपयोग अन्य अधिकारों के साथ मिलान द्वारा ही किया जा सकता है। अतएव इन अधिकारों के प्ररूपण विस्तार को देखिये। बंधस्वामित्वविचयखण्ड अमरावती प्रति के ६६७ पत्र पर समाप्त हुआ। उसके

क्या वर्गणा नाम का कोई पृथक् अनुयोद्वार नहीं होने से उसके नाम पर खण्ड संज्ञा नहीं हो सकती?

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

पश्चात् मंगलाचरण व श्रुतावतार आदि विवरण ७१३ पत्र तक चल कर कृतिका प्रारम्भ होता है जिसका ७५६ तक अर्थात् ४३ पत्रों में, वेदना का ७५६ से ११०६ अर्थात् ३५० पत्रों में, स्पर्श का, ११०६ से १११४ अर्थात् ८ पत्रों में, कर्म का १११४ से ११५९ अर्थात् ४५ पत्रों में, प्रकृति का ११५९ से १२०९ अर्थात् ५० पत्रों में और बन्धन के बंध और बंधनीय का १२०९ में १३३२ अर्थात् १२३ पत्रों में प्ररूपण पाया जाता है। इन १२३ पत्रों में से बंध का प्ररूपण प्रथम १० पत्रों में ही समाप्त कर दिया गया है, यह कह कर कि—

'एत्थ उद्दे से खुद्दाबंधस्स एक्कारस्स-अणियोगद्दाराणं परूवणा कायव्वा'।

इसके आगे कहा गया है कि—

'तेण बंधणिज्ज-परूवणे कीरमाणे वग्गणपरूवणा णिच्छएण कायव्वा, अण्णहा तेवीस-वग्गणासु इमा चेव वग्गणा बंधपाओग्गा अण्णाओ बंधपाओग्गाओ ण होंति त्ति अवगमाणु-ववत्तीदो। वग्गणाणमणुमग्गणट्ठदाए तत्थ इमाणि अट्ठ अणियोगद्दाराणि णादव्वाणि भवंति' इत्यादि

अर्थात् बंधनीय के प्ररूपण करने में वर्गणाप्ररूपणा निश्चय से करना चाहिये, अन्यथा तेईस वर्गणाओं में येही वर्गणाएं बंध के योग्य हैं अन्य वर्गणाएं बंध के योग्य नहीं हैं, ऐसा ज्ञान नहीं हो सकता। उन वर्गणाओं की मार्गणा के लिये ये आठ अनुयोगद्वार ज्ञातव्य हैं। इत्यादि।

इस प्रकार पत्र १२१९ से वर्गणा का प्ररूपण प्रारम्भ हो कर पत्र १३३२ पर समाप्त होता है, जहां कहा गया है—

'एवं विस्ससोवचयपरूवणाए समत्ताए बाहिरियवग्गणा समत्ता होदि।'

इस प्रकार वर्गणा का विस्तार ११३ पत्रों में पाया जाता है जो उपर्युक्त पांच अधिकारों में वेदना को छोड़ कर शेष सब से कोई दुगना व उस से भी अधिक है। पूरा खुद्दाबंध खण्ड ४७५ पत्र से ५७६ पत्र तक अर्थात् १०१ पत्रों में, तथा बंधसामित्तविचय ५७६ पत्र से ६६७ तक अर्थात् ९१ पत्रों में पाया जाता है। केवल वर्गणा का प्ररूपण इन दोनों से विस्तीर्ण है। ऐसी अवस्था में वेदना को छोड़ कर शेष अधिकारों में इस अवान्तर के भी अवान्तरभेदा-न्तर्गत वर्गणा को अन्य अधिकारों की अपेक्षा संक्षिप्त और प्राधान्यरहित कहना चाहिये या इसके विपरीत, यह स्पष्ट समझ में आ जाता है।

वेदनाखण्ड के आदि में मंगल सूत्र पाये जाते हैं। उनकी टीका में धवलाकार ने खण्ड-विभाग व उनमें मंगलाचरण की व्यवस्था की सूचना के जो अवतरण मुख्तारजी ने दिये हैं वे इस प्रकार हैं:—

वेदनाखण्ड के आदि मंगलाचरण और कौन-कौन खण्डों का है ?

उवरि उच्चमाणेसु तिसु खण्डेसु कस्सेदं मंगलं ? तिण्णं खण्डाणं। कुदो ? वग्गणा-महाबंधाणमादीए मंगलकरणादो। ण च मंगलेण विणा गंथस्स पारमदि, तस्स अणाइरियत्तपसंगादो। × × × × × कदि-पास-

भूदबलि-भडारओ

कम्म-पयडि-अणियोगद्दाराणि वि एत्थ परूविदाणि, तेसिं खंडगंथसण्णमकाऊण तिण्णि चेव खंडाणि त्ति किमट्ठं उच्चदे ? ण, तेसिं पहाणत्ताभावादो। तं पि कुदो णव्वदे ? संखेवेण परूवणादो।

मुख्तारजी के मत से यहां "वीरसेनाचार्य ने उक्त मंगल सूत्रों की ऊपर कहे हुए तीन खंडों—वेदना, बंधसामित्तविचओ और खुद्दाबंधो—का मंगलाचरण बतलाते हुए यह स्पष्ट सूचना की है कि वर्गणाखण्ड के आदि में तथा महाबंधखण्ड के आदि में पृथक् मंगलाचरण किया गया है, मंगलाचरण के बिना भूतबलि आचार्य ग्रंथ का प्रारम्भ ही नहीं करते हैं। साथ ही यह भी बतलाया है कि जिन कदि, फास, कम्म, पयडि, (बंधण) अनुयोगद्वारों का भी यहां (एत्थ-इस वेदनाखंड में) प्ररूपण किया गया है, उन्हें खण्ड संज्ञा न देने का कारण उनके प्रधानता का अभाव है, जो उनके संक्षेप कथन से जाना जाता है। उक्त फास आदि अनुयोगद्वारों मेंसे किसी के भी शुरू में मंगलाचरण नहीं है और इन अनुयोगद्वारों की प्ररूपणा वेदनाखण्ड में की गई है, तथा इनमें से किसी को खंड ग्रन्थ की संज्ञा नहीं दी गई, यह बात ऊपर के शंका- समाधान से स्पष्ट हैं।"

अब इस कथन पर विचार कीजिये। 'उवरि उच्चमाणेसु तिसु खण्डेसु' का अर्थ किया गया है 'ऊपर कहे हुए तीन खण्ड अर्थात् वेदना, बंधसामित्त और खुद्दावंध।' हमें यहां पर यह याद रखना चाहिये कि खुद्दाबंध और बंधसामित्त खण्ड दूसरे और तीसरे हैं जिनका प्ररूपण हो चुका है और अभी वेदनाखंड के मंगलाचरण का ही विषय चल रहा है खंड का विषय आगे कहा जायगा। ऐसी अवस्था में 'उवरि उच्चमाण' जिसकी संस्कृत छाया, जहां तक मैं समझता हूं, 'उपरि उच्यमान' ही हो सकती है, का तात्पर्य ऊपर कहे गये दो और आगे कहे जाने वाले तीसरे खंड से कैसे हो सकता है, यह समझ में नहीं आता। यदि मुख्तारजी के इस अर्थानुसार 'उवरि' पर ध्यान दें तो वेदनाखण्ड छट जाता है और उच्यमाण पर दें तो ऊपर के दो खण्ड छूट जाते हैं। ऐसी अवस्था में उवरि उच्चमाण पद-द्वारा ये तीन खंड कैसे इकट्ठे किये गये यह जाना नहीं जाता। अब आगे का शङ्का-समाधान देखिये। प्रश्न है यह कैसे जाना कि यह मंगल 'उवरि उच्चमाण' तीनों खण्डों का है ? इसका उत्तर दिया जाता है, 'क्योंकि वर्गणा और महाबंध के आदि में मंगल किया गया है।' यदि यहां जिन खण्डों में मंगल किया गया है उनको अलग निर्दिष्ट कर देना आचार्य का अभिप्राय था तो उनमें जीवट्ठाण का भी नाम क्यों नहीं लिया, क्योंकि, तभी तो तीन खंड शेष रहते ? फिर आगे कहा गया है कि मंगल किये विना भूतबलि भट्टारक ग्रन्थ प्रारम्भ ही नहीं करते, क्योंकि, उससे अनाचार्यत्व का प्रसंग आ जाता है। पर यहां तो एक नहीं दो-दो खण्ड मङ्गल के विना केवल प्रारम्भ ही नहीं समाप्त भी किये जा चुके हैं, जिनकी मङ्गलव्यवस्था उक्त

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

मतानुसार अब पीछे से की जा रही है। पर मुख्तारजी ने यह बतलाने की कृपा नहीं की कि इस प्रकार की मङ्गलव्यवस्था का क्या कहीं कोई आधार है? प्रस्तुत में तो भूतबलि आचार्य केवल आदि मङ्गल को ही स्वीकार करते हैं। उसके विना वे अनाचार्यत्व दोष उत्पन्न होना मानते हैं। मङ्गल के जो निबद्ध-अनिबद्ध रूप दो भेद इस मङ्गल के प्रकरण में तथा जीवट्ठाण के प्रारम्भ में बताये गये हैं उनमें भी सूत्र के आदि में ही मङ्गल किये जाने पर जोर दिया गया है। यथा—

'जो सुत्तस्सादीए सुत्तकत्तारेण णिबद्ध देवदाणमोक्कारो तं णिबद्धमङ्गलं। जो सुत्तस्सादीए सुत्तकत्तारेण कयदेवदाणमोक्कारो तमणिबद्धमंगलं'।

(सं० प्र० १ पृ० ४१)

किन्तु सत्प्ररूपणा पृष्ठ ४०, ४१ में, मध्यमङ्गल और अन्तमङ्गल का भी विधान पाया जाता है। पर इस विधान-द्वारा भी खुद्दाबंध और बन्धसामित्त से प्रस्तुत मङ्गल का संबन्ध नहीं बैठाया जा सकता, क्योंकि, न वह उनके मध्य में रखा गया है और न अन्त में। वे दोनों खण्ड इससे पूर्व ही क्रम से समाप्त हो चुके हैं। ऐसे कठिनाई के स्थलों के लिये संस्कृत साहित्य में एक और युक्ति पाई जाती है, जिसे 'देहलीदीपकन्याय' कहते हैं। जिस प्रकार द्वार की देहली पर दीपक रख देने से घर के भीतर और बाहर दोनों ओर प्रकाश हो जाता है, उसी प्रकार कहीं-कहीं बीच में आये हुए पद या प्रकरण का सम्बन्ध ऊपर और नीचे दोनों ओर जोड़ लेते हैं। पर यह बात बनती तब है जब वह बीच की चज बीच की ही हो, वह पूर्व के अन्त और उत्तर के आदि की नहीं गिनी जाती। पर यहां तो यह मङ्गल आदि मङ्गल कहा जा रहा है। इतने पर भी खींचातानी करके यदि इस मङ्गल को बन्ध-सामित्तविचय और वेदनाखण्ड के बीच की चीज मान कर उसे दोनों ओर जोड़ भी लें तो भी खुद्दाबंध के साथ उसका सम्बन्ध जुटाने में तो हमारा यह देहलीदीपकन्याय भी असमर्थ है, क्योंकि उस खण्ड का तो यहां स्पर्श भी नहीं है।

आगे के शंका-समाधान की भी यही दुर्दशा की गई है। प्रश्न है, कृति, स्पर्श, कर्म और प्रकृति अनुयोगद्वार भी यहां प्ररूपित है, उनकी खंडसंज्ञा न करके केवल तीन ही खंड क्यों कहे जाते हैं? उत्तर है, उनमें प्रधानत्व का अभाव है और यह उनके संक्षेप प्ररूपण से ज्ञात हो जाता है। मुख्तारजीने अपने अवतरण व स्पष्टीकरण में प्रकृति के आगे बन्धन और अपनी तरफ से जोड़ दिया है, तथा 'एत्थ' का तात्पर्य इस वेदनाखण्ड में ऐसा बैठाया है। पर उन्होंने यह खुलासा नहीं किया कि अनुयोगद्वारों की गणना में बन्धन अपनी तरफ से जोड़ने की उन्हें आवश्यकता क्यों पड़ी। यदि गणना अधूरी जंची तो चौबीस अनुयोगद्वारों में के शेष सभी क्यों नहीं जोड़ दिये? उन्होंने यह भी स्पष्ट नहीं किया कि यहां धवलाकार

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

का तात्पर्य कौन से तीन खण्डों से है ? क्या वे ही जिनका सम्बन्ध मंगलाचरण से बैठाया गया है या अन्य कोई ? इसका स्पष्टीकरण यहां बहुत जरूरी था। यदि यहां भी खुद्दाबंध, बंधसामित्त और वेदना से ही अभिप्राय है तो वह किस अपेक्षा से ? यदि चौबीस अनुयोगद्वारों में से उत्पत्ति की ही यहां अपेक्षा है तो जीवस्थान, वर्गणा और महाबंध भी तो वहीं से उत्पन्न हुए हैं, फिर उन्हें किस विचार से अलग किया गया ? और यदि वेदना, वर्गणा, महाबंध से यहां अभिप्राय है तो एक तो मुख्तारजी के उक्त क्रम में भंग पड़ जाता है और दूसरे वर्गणाखण्ड का भी इन्हीं अनुयोगद्वारों में अन्तर्भाव का प्रसंग आता है जो उन्हें इष्ट नहीं है।

इस प्रकार मुख्तारजी की उक्त कल्पना से अनेक कठिनाइयां उत्पन्न होती हैं। अतः वेदनाखण्ड के आदि में आये हुए मंगलाचरण को ऊपर के खुद्दाबन्ध व बंधसामित्त तथा आगे के वेदना, इस प्रकार से तीन खण्डों का मंगलाचरण सिद्ध करने का प्रयत्न बड़ा बेतुका और बेआधार तथा सारे प्रसंग को गड़बड़ी में डालने वाला है। यह सब कल्पना किन भूलों का परिणाम है और उक्त अवतरणों का सच्चा रहस्य क्या है यह आगे चल कर बतलाया जायगा। उससे पूर्व यहां मुख्तारजी की शेष दो युक्तियों पर और विचार कर लेना आवश्यक है।

धवला में जहां वेदनाखण्ड समाप्त हुआ है वहां यह वाक्य पाया जाता है—

वेदनाखण्ड-समाप्ति की पुष्पिका

'एवं वेयण-अप्पाबहुगाणिओगद्दारे समत्ते वेयणाखंड समत्ता।' इसके आगे कुछ नमस्कार-वाक्यों के पश्चात् पुनः लिखा मिलता है 'वेदनाखण्ड समाप्तम्'

यह बात सच है कि 'वेयणाखंड समत्ता' वाक्य व्याकरण की दृष्टि से अशुद्ध है और मुख्तारजी का यह भी अनुमान गलत नहीं कहा जा सकता कि इस वाक्य में खण्ड शब्द संभवतः प्रक्षिप्त है। खण्ड शब्द निकाल देने से 'वेयणा समत्ता' वाक्य ठीक बैठ जाता है। हो सकता है वह लिपिकारद्वारा प्रक्षिप्त हुआ हो। पर उससे यह तो सूचना हमें मिलती है कि वह लिपिकार वहां वेदनाखण्ड की समाप्ति समझता था। इस प्रक्षेप को आधुनिक लिपिकारकृत तो मुख्तारजी भी नहीं कहते। यदि वह प्रक्षिप्त है तो उसी लिपिकारकृत हो सकता है जिसने मूडविद्री की ताडपत्रीय प्रतिलिपि की है। हम अन्यत्र बतला चुके हैं कि मूडविद्री की ताड़पत्रीय प्रति संभवतः शक की ९ वीं—१०वीं शताब्दि की है अर्थात् आज से कोई हजार आठ सौ वर्ष पुरानी। उस प्रक्षिप्त वाक्य से उस समय के कम से कम एक व्यक्ति का यह मत तो मिलता है कि वह वहां वेदनाखंड की समाप्ति समझता था। उससे यह भी ज्ञात हो जाता है कि उस लेखक की जानकारी में इसके सिवा और कहीं वर्गणाखण्ड नहीं था, नहीं तो वह वर्गणाखण्ड के समाप्त होने की वहां विश्वासपूर्वक दो-दो बार सूचना देने की धृष्टता कदापि न करता। हम जो कुछ ऊपर ऊहापोह कर आये हैं उससे तो ज्ञात

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

होता है कि मूलतः यहां वेदनाखण्ड के समाप्त होने का कोई संकेत रहा हो तो आश्चर्य नहीं। यदि नहीं रहा तो प्रति के लिखाने वाले किसी भारी विद्वान् ने वहां वह सूचना डालने का आदेश किया होगा। और यदि लेखक ने उसे अपने ही मन से डाला हो तो कहना चाहिये वह बड़ा विवेकी विचारवान् लेखक था। विना किसी आधार व प्रमाण के लेखक बेचारे को वहां खण्ड शब्द डालने की क्यों प्रवृत्ति हुई होगी यह तो सोचना चाहिये? मुख्तारजी ने कहा है कि अनेक अन्य स्थलों पर भी नानाप्रकार के वाक्य प्रक्षिप्त पाये जाते हैं। यह बात सच है, पर जो उदाहरण उन्होंने बतलाया है वहां, और जहां तक मैं अन्य स्थल ऐसे देख पाया हूं तहां तक यही पाया जाता है कि लेखक ने अधिकारों की संधि आदि पा कर अपने गुरु या देवता का नमस्कार या उनकी प्रशस्ति-सम्बन्धी वाक्य या पद्य डाले हैं। यह पुराने लेखकों की शैली सी रही है। पर ऐसा स्थल एक भी देखने में नहीं आया और न मुख्तारजी ने ही बतलाने की कृपा की कि जहां पर लेखक ने अधिकार-सम्बन्धी सूचना गलत-सलत अपनी ओर से जोड़ घटा दी हो। प्रकृत विषय पर तो ऐसा ही उदाहरण लागू हो सकता था। अत एव चाहे यह खण्ड शब्द किसी लिपिकार-द्वारा प्रक्षिप्त हो और चाहे मौलिक, उससे वेदनाखण्ड के वहां समाप्त होने की एक पुरानी मान्यता तो प्रमाणित होती है।

इन्द्रनन्दि की प्रामाणिकता

इन्द्रनन्दि और विबुध श्रीधर ने श्रुतावतार का स्वतन्त्ररूप से कथानक लिखा है जिसमें उन्होंने षट्खण्डागम की रचना का विवरण दिया है। विबुध श्रीधर का श्रुतावतार कथानक तो बहुत काल्पनिक है, पर उसमें भी धवलान्तर्गत पांच या छह खण्डोंवाली बातमें कुछ अविश्वसनीयता नहीं दिखती। इन्द्रनन्दि ने प्रकृत विषय से संबन्ध रखनेवाली जो वार्ता दी है उसको हम प्रथम जिल्द की भूमिका में पृ० ३८ पर लिख चुके हैं। उसका संक्षेप यह है कि वीरसेन ने उपरितम निबन्धनादि अठारह अधिकार लिखे और उन्हें ही सत्कर्मनाम छठवां खण्ड संक्षेपरूप बनाकर छह खण्डों की ७२ हजार ग्रन्थप्रमाण प्राकृत-संस्कृत-भाषा-मिश्रित धवला टीका बनाई। इस बात के बोधक इन्द्रनन्दि के शब्द ध्यान देने योग्य हैं—

उपरितमनिबन्धनाद्यधिकारैरष्टादशविकल्पैः ॥ १८० ॥
सत्कर्मनामधेयं षष्ठं खंडं विधाय संक्षिप्य।
इति षण्णां खण्डानां ग्रंथसहस्रैः द्विसप्तत्या ॥ १८१ ॥
प्राकृतसंस्कृतभाषामिश्रां टीकां विलिख्य धवलाख्याम्।
जयधवलां च.....

इन शब्दों का धवलाकार के उन शब्दों से मिलान कीजिये जो इसी सम्बम्ध में उनके द्वारा कहे गये हैं। निबन्धनादि विभाग को वहां भी 'उवरिम गंथ' कहा गया है और

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

अठारह अनुयोगद्वारों के संक्षेप में प्ररूपण करने की प्रतिज्ञा की गई है। यह बात सच है जैसा कि मुख्तारजी ने बतलाया है, कि इन्द्रनन्दि की श्रुतावतारकथा में कुछ बातें ऐसी हैं जिनका धवलान्तर्गत विवरण से किंचित् भेद पाया जाता है। किन्तु उन पर से उसे मुख्तारजी ने जितना अप्रमाणिक ठहराने का प्रयत्न किया है उतना अप्रमाणिक वह ग्रन्थ नहीं है। यथार्थतः धवला-जयधवला की रचनासम्बन्धी जो वार्ता उसमें पाई जाती है उसमें तो मुझे कोई अप्रमाणिकता देखने में नहीं आई। बल्कि ऊपर बतलाये हुए प्रसंग के समान जगह-जगह वह धवलादि ग्रन्थों में कही गई बातों का ही और अच्छी तरह से स्पष्टीकरण करती है। यद्यपि इन्द्रनन्दि का समय निर्णीत नहीं हैं, पर उनके सम्बन्ध में पं० नाथूरामजी प्रेमी का मत हैं कि 'ये वे ही इन्द्रनन्दि हैं जिनका उल्लेख आचार्य नेमिचन्द्र ने गोम्मट्टसार कर्मकाण्ड की ३९६ वीं गाथा में गुरुरूप से किया है'। इससे वे विक्रम की ११ वीं शताब्दि के आचार्य ठहरते हैं। (मा० दि० जैं० ग्रं० नं० १३ भू० पृ० २)

इस अनुमान में कोई आश्चर्य भी नहीं है। वीरसेन का व धवला की रचना का इतिहास उन्हों ने ऐसा दिया है जैसे मानों वे उससे अच्छी तरह सुपरिचित हैं। उनके गुरु एलाचार्य कहां रहते थे, वीरसेन ने उनके पास सिद्धान्त पढ़ कर कहां जाकर, किस मंदिर में बैठ कर, कौनसा ग्रंथ सामने रख कर अपनी टीका लिखी यह सब इन्द्रनन्दि ने अच्छी तरह बतलाया है जिसमें कोई बनावट व कृत्रिमता कम से कम मुझे तो नजर नहीं आती—बहुत ही प्रमाणिक इतिहास जंचता है। उन्हों ने कदाचित् धवल जयधवल का सूक्ष्मावलोकन न किया हो और भले ही उन्हों ने अपना श्रुतावतार लिखने से पूर्व कोई लम्बे चौड़े टिप्पण न लिख रखे हों, पर उनकी सूचनाओं पर से यह बात सिद्ध नहीं होती कि धवल, जयधवल ग्रन्थ उनके सामने मौजूद नहीं थे। उन्होंने ऐसी कोई बात नहीं लिखी जिसकी इन ग्रन्थों की वार्ता से इतनी विषमता हो जो पढ़ कर पीछे स्मृति के सहारे लिखने वाले द्वारा उत्पन्न न की जा सकती हो। इसके अतिरिक्त उनका ग्रन्थ प्राचीन प्रतियों पर से सुसंपादित भी अभी तक नहीं किया गया है। किसी एकाध प्रति पर से कभी छाप दिया गया था, उसी की कापी अभी हमारे सामने प्रस्तुत है। मुख्तारजी लिखते हैं कि 'उन्हों ने (इन्द्रनन्दि व श्रीधर ने) इस विषय में जो कुछ लिखा है वह प्रायः किंवदन्तियों अथवा सुने-सुनाये आधार पर लिखा जान पड़ता है।' जैसा मैं ऊपर कह आया हूं धवला, जयधवला की रचना के सम्बन्ध में तो इन्द्रनन्दि का ज्ञान बहुत व्यवस्थित पाया जाता है। हां, यह हो सकता है कि उनसे पूर्व का इतिहास उन्होंने बहुत कुछ किंवदन्तियों आदि पर से संग्रह किया हो, क्योंकि उन्होंने ऐसी बहुत सी बातों पर भी प्रकाश डाला है जो धवला में स्पष्टतः उल्लिखित नहीं पायी जातीं। परिकर्म, व्याख्याप्रज्ञप्ति, बप्पदेव आदि टीकाओं व टीकाकारों के उल्लेख धवलादि में इधर-उधर मिलते हैं, पर व्यव-

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

स्थित नहीं। आखिर कहीं से तो श्रुतावतारकार ने उनके सम्बन्ध का व्यवस्थित इतिहास संग्रह किया होगा? यदि इस संग्रह-कार्य के लिये सिवाय किंवदन्तिओं और इधर-उधर सुनने में आनेवाली बातों के उनके पास और कोई अन्य साधन नहीं थे तब तो हमें मानना पड़ेगा कि वे एक असाधारण ऐतिहासिक थे जो इस प्रकार के अव्यवस्थित साधनों पर से उतना व्यवस्थित श्रुतावतार-वर्णन उपस्थित कर सके। और इस संबन्ध की किंवदन्तियां भी कहीं बाजार में से सुनकर संग्रह करने को तो मिली नहीं होंगी, वे भी प्रामाणिक पुरुषों के पास से ही तो उन्होंने प्राप्त की होंगी। इन्द्रनन्दि कैसे सुयोग्य और सच्चे संग्राहक थे यह उनकी एक बात परसे मालूम हो जाता है। उन्होंने कषायप्राभृतकार गुणधराचार्य व षट्खंडागम के मूलगुरु धरसेनाचार्य के विषय में स्पष्ट कह दिया है कि उन्हें उनकी पूर्वापर गुरुपरम्परा ज्ञात नहीं है, क्योंकि उस बात को बतलानेवाला न तो उन्हें कोई विश्वसनीय ग्रंथ मिला और न कोई मुनिजन—

गुणधर-धरसेनान्वयगुर्वोः पूर्वापरक्रमोऽस्माभिः।
न ज्ञायते तदन्वयकथकागम-मुनिजनाभावात् ॥ १५१ ॥

कितनी स्पष्टवादिता साहित्यिक सचाई और नैतिक बल इस अज्ञान के स्वीकार में भरी हुई है, यह वे ही पूर्णतः हृदयंगम कर सकते हैं जिन्हें कभी अपनी कोई कमजोरी स्वीकार करने का मौका आ पड़ा होगा। क्या इसके लेखक के संबन्ध में यह कहा जा सकता है कि वह कोई झूठी-सच्ची इधर-उधर से सुनी-सुनाई बातों का आडम्बर बना कर एक पुस्तक रचने का लालसी था, और विद्वत्समाज को धोखे में डालना चाहता था? मैं ऐसा नहीं समझता। अतएव जबतक अन्य प्रबलतर प्रमाणों पर से इन्द्रनन्दि-कृत श्रुतावतार की ऐतिहासिक वार्ता को असत्य साबित न किया जाय तब तक उस पर अविश्वास करने का कोई कारण नहीं है।

मूडबिद्री से प्रतिलिपि निकालनेवाले लेखक की प्रामाणिकता

मुख्तार जी की अन्तिम युक्ति को पढ़ कर मुझे अत्यन्त आश्चर्य और खेद होता है। आश्चर्य तो इस बात का है कि 'धवलादि श्रुत-परिचय' में जिस लेखक पर उन्होंने वर्गणाखण्ड को जान बूझ कर छोड़ देने और अधूरी प्रति को अन्तिम प्रशस्ति आदि जोड़ कर यथेष्ट पुरस्कार पाने के लिये पूरा प्रकट कर देने की संभावना का, अर्थात् एक साहित्यिक चोरी व बेईमानी की आशंका का दोषारोपण किया है, उसका ही ग्रन्थ की समालोचना में उन्होंने चित्र सब से पहले दिये जाने की आवश्यकता पर जोर दिया है। खेद इस बात का है कि इस प्रकार का दोषारोपण या दोष की आशंका उत्पन्न करके एक बड़े सच्चे उपकारी के साथ भारी अन्याय किया गया है। यह बात सच है कि स्वयं मुख्तार जी इसकी सचाई के सम्बन्ध में 'बहुत ही कम आशा' रखते हैं, पर बहुत ही कम सही, उनके हृदय में यह बात उठी तो है और वह भी उन्होंने विद्वत्संसार

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

पर प्रकट करके लेखक के प्रति घृणा की लहर उत्पन्न कर ही दी। मूडबिद्री से छुपे तौर पर कापी करके इन ग्रन्थों को बाहर निकालनेवाले लेखक की सचाई पर सन्देह करना शायद स्वाभाविक ही हो, पर हम तो ग्रन्थ के संशोधन सम्पादनार्थ उसमें जितने प्रविष्ट होते हैं उतने ही उस लेखक की ईमानदारी और परिश्रम पर मुग्ध होते जाते हैं। मेरा यह कहने का तात्पर्य नहीं कि उक्त लेखक के कार्य में त्रुटि नहीं है या प्रमाद नहीं है। है और बहुत है, पर बेईमानी की झलक उसमें मुझे बिलकुल नहीं दिखाई देती। यथार्थतः तो बार-बार आश्चर्य हमें इस बात का नहीं होता कि प्रति में स्खलन हैं, आश्चर्य तो इस बात का है कि प्रस्तुत पाठ पर से ठीक पाठ बैठा लेना संभव हो जाता है। सो भी जो प्रतियां हमारे उपयोग में आ रही हैं वे मूडबिद्री से आई प्रति की प्रतिलिपि पर से दूसरे लेखकों द्वारा की हुई कापियां हैं। इनपर सूक्ष्म और गंभीर परिश्रम करने के पश्चात् अबतक का मेरा जो अनुभव है उस पर से मैं मूड़बिद्री से कापी करनेवाले लेखक को यह प्रमाणपत्र दे सकता हूं कि उसने अपनी शक्ति भर अपना काम सचाई और ईमानदारी से किया है। फिर भी समय-समय पर कमजोरी और प्रमाद के परे तो कोई भी नहीं कहा जा सकता, अत एव अब उक्त दोष की संभावना पर भी विचार कर लेना उचित है। धवला की कुल टीका का प्रमाण इन्द्रनन्दि व अन्य श्रुतावतार-लेखकों ने सत्तर* या बहत्तर† हजार बतलाया है। हमारे सामने धवला की तीन प्रतियां मौजूद हैं, जिनकी श्लोक-संख्या जांच लेना ठीक होगा। अमरावती की प्रति में १४६५ पत्र अर्थात् २९३० पृष्ठ हैं और प्रत्येक पृष्ठ पर १२ पंक्तियाँ लिखी गई हैं। प्रत्येक पंक्ति में ६२ से ६८ तक अक्षर पाये जाते हैं जिससे औसत ६५ अक्षरों की ली जा सकती है। तदनुसार कुल ग्रन्थ में २९३० × १२ × ६५= २२८५४०० अक्षर आते हैं। इनकी श्लोक-संख्या बनाने के लिये ३२ का भाग देने से ७१४१८ आये। यह प्रस्तुत प्रति की श्लोक-संख्या है जिसे ७२ हजार कहना साधारण बात है।

कारंजा व आरा की प्रतियों की उक्त प्रकार से जाँच-द्वारा भी प्रायः यही निष्कर्ष निकलता है। इससे तो अनुमान होता है कि प्रतियों में से एक खण्ड का खण्ड गायब होना असम्भव है, क्योंकि उसका प्रमाण और सब खण्डों को देखते हुए कम से कम पांच-सात हजार तो अवश्य रहा होगा। यह कमी प्रस्तुत प्रतियों में झलके बिना नहीं रह सकती थी। तारतम्य की दृष्टि से भी धवला अपने प्रस्तुत रूप में अपूर्ण नज़र नहीं आती। प्रथम तीन खण्ड तो पूरे हैं ही। चौथे वेदनाखण्ड के आदि से कृति आदि अनुयोगद्वार प्रारंभ हो जाते हैं जो बराबर क्रम से चौबीस तक पाये जाते हैं—प्रथम छह भूतबलिकृत सूत्रों और वीरसेन की टीकासहित और शेष १८ चूलिका नाम से वीरसेनकृत। इसके आगे किसी खण्ड की

* देखो ब्रह्महेम श्रुतस्कंध 'सदरीसहस्स धवलो'। † देखो इन्द्रनन्दि श्रुतावतार 'ग्रन्थसहस्रैः द्विसप्तत्या'।

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

कल्पना के लिये न तो कोई आधार है और न आवश्यकता। अतः वर्गणाखण्ड के लेखक-द्वारा छोड़ देने या छूट जाने की आशंका के लिये कोई आधार नहीं है।

वेदनाखण्ड के आदि अवतरणों का ठीक अर्थ

अब हम यहां मुख्तार जी की उन मूल भूलों पर विचार करते हैं जिनके कारण उपर्युक्त गड़बड़ी उत्पन्न हुई है और साथ ही उन आधारों को प्रस्तुत करते हैं जिनसे धवला के विभाग सम्बन्धी उन बातों की पुष्टि होती हैं जिन्हें हम प्रथम जिल्द की भूमिका में कह आये हैं। मुख्तार जी अपने मन में यह धारणा कर चुके हैं कि बंधसामित्तविचय से आगे के कृति आदि चौबीस अनुयोग-द्वारों का विवरण वेदनाखण्ड के ही अन्तर्गत हैं और उनकी यह धारणा वेयणकसिणपाहुड और वेदनाखण्ड में शब्द-साम्य के कारण उत्पन्न हुई जान पड़ती है। किंतु इस शब्दसाम्य के निमित्त से होने वाले भ्रम का निराकरण हम ऊपर कर आये हैं। अपनी धारणा को पुष्टि देने के लिये उन्होंने वेदनाखण्ड के आदि के मङ्गलसूत्रों को दो पूर्वोक्त खुद्दाबंध और बंधसामित्त-खंडों का भी सिद्ध करने का प्रयत्न किया है, उससे जो गड़बड़ी उत्पन्न हुई है उसका भी हम ऊपर परिचय करा आये हैं। उस प्रयत्न में उन्होंने 'उवरि उच्चमाण' पद का जो अर्थ किया है वह अत्यन्त विलक्षण और आश्चर्य में डालनेवाला है। और फिर भी उससे उनके मत की पुष्टि नहीं हो सकती, जैसा कि हम ऊपर दिखा आये हैं।

'उवरि' शब्द का धवलाकार ने सर्वत्र 'आगे' के अर्थ में प्रयोग किया है और पहले के अर्थ में 'पुव्व' का। उदाहरणार्थ—संतपरूवणा के पृष्ठ १३० पर उन्होंने कहा है—

संपहि पुव्वं उत्त-पयडिसमुक्कित्तणा .. एदेहं पंचण्हमुवरि संपहि पुव्वुत्त-जहण्णट्ठिदि .....च पक्खित्ते चूलियाए णव अहियारा भवंति।

अर्थात् पूर्वोक्त प्रकृतिसमुत्कीर्तनादि पांचों के ऊपर अभी कहे गये जघन्यस्थिति आदि जोड़ देने पर चूलिका के नौ अधिकार हो जाते हैं। यहां ऊपर कहे जा चुके के लिये 'पुव्वं उत्तं' और 'पुव्वुत्तं' शब्द प्रयुक्त हुए हैं और 'उवरि' से आगे का तात्पर्य है। पृ० ७३ पर 'उवरि' से बने हुए उवरीदो (उपरितः) अव्यय का प्रयोग देखिये। आचार्य कहते हैं—

पुव्वाणुपुव्वी पच्छाणुपुव्वी जत्थतत्थाणुपुव्वी चेदि तिविहा आणुपुव्वी। जं मूलादो परिवाडीए उच्चदे सा पुव्वाणुपुव्वी। तिस्से उदाहरणं 'उसहमजियं च वंदे' इच्चेवमादि। जं उवरीदो हेट्ठा-परिवाडीए उच्चदि सा पच्छाणुपुव्वी। तिस्से उदाहरणं 'एस करेमि य पणमं जिणवर वसहस्स वड्ढमाणस्स। सेसाणं च जिणाणं सिवसुहकंखाविलोमेण' ॥

यहां यह बतलाया है कि जहां पूर्व से पश्चात् की ओर क्रम से गणना की जाती है उसे पूर्वानुपूर्वी कहते हैं, जैसे, ऋषभ और अजितनाथ को नमस्कार। पर जहाँ नीचे या पश्चात् से पूर्व की ओर अर्थात् विलोमक्रम से गणना की जाती है वह पश्चादनुपूर्वी

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

कहलाती है। जैसे, मैं वर्द्धमान जिनेश को प्रणाम करता हूं और शेष (पार्श्वनाथ, नेमिनाथ आदि) तीर्थङ्करों को भी। यहाँ उवरि से तात्पर्य आगे से है और पीछे की ओर के लिये हेट्ठा (अधः) शब्द का प्रयोग किया गया है।

धवला में आगे बंधन-अनुयोगद्वार की समाप्ति के पश्चात् कहा गया है 'एत्तो उवरिमगंथो चूलिया णाम' अर्थात् यहां से ऊपर के ग्रन्थ का नाम चूलिया है। यहां उवरिम से तात्पर्य आगे आनेवाले ग्रन्थ-विभाग से है न कि पूर्वोक्त विभाग से।

और भी धवला में सैकड़ों जगह उवरि शब्द का प्रयोग हमारी दृष्टि में इस प्रकार आया है 'उवरि भण्णमाणचुण्णिसुत्तादो' 'उवरिमसुत्तं भणदि' आदि। इनमें प्रत्येक स्थल पर निर्दिष्ट सूत्र आगे दिया गया पाया जाता है। उवरि का पूर्वोक्त के अर्थ में प्रयोग हमारी दृष्टि में नहीं आया। इन उदाहरणों से स्पष्ट है कि उवरि का अर्थ आगे आनेवाले खण्डों से ही हो सकता है पूर्वगत से नहीं। और फिर प्रकृत में तो 'उच्चमाण' पद इस अर्थ को बिलकुल ही स्पष्ट कर देता है, क्योंकि, उच्यमान का अर्थ उक्त तो हो ही नहीं सकता, उसका अर्थ केवल प्रस्तुत या आगे आनेवाले खण्ड ही हो सकता है, पहले समाप्त हो गये खण्ड कदापि नहीं। पर यदि आगे कहे जानेवाले तीन खण्डों का यह मंगल है तो इस बात का वर्गणा और महाबंध के आदि में मंगलाचरण की सूचना से कैसे सामञ्जस्य बैठ सकता है? यही एक विकट स्थल है जिसने उपर्युक्त सारी गड़बड़ी को उत्पन्न किया है। इस पर जरा विचार कीजिये। अवतरण में पहले तो कह दिया गया है कि आगे कहे जानेवाले तीन खण्डों का यह मंगल है और फिर जब यह पूछा कि यह कैसे, तब कहा जाता है कि वर्गणा और महाबंध के आदि में मंगल किये जाने से। आगे कहे जानेवाले ये ही तीन वेदना, वर्गणा और महाबंध तो खण्ड हैं जिनका वह मंगल हो सकता है। फिर यदि वर्गणा और महाबंध के आदि में मंगल अलग से किया गया है तो 'उवरि उच्यमान' पद से कौन से तीन खण्डों के मंगलाचरण होने की सूचना की गई होगी? इसी अड़चन से मुख्तारजी ने यहां खुद्दाबंध और बंधसामित्त खण्डों के अभिप्राय की कल्पना की है जो 'उवरि उच्यमाण' तथा विना मंगलाचरण के ग्रन्थ प्रारंभ करने के प्रबल निषेध की स्पष्ट सूचना तथा आगे के शंका-समाधान-क्रम के साथ बिलकुल सामंजस्य नहीं रखती। समस्त प्रकरण पर सब दृष्टियों से विचार करने पर ज्ञात होता है कि धवला की उपलब्ध प्रतियों में यहां एक अशुद्धि है जो मुख्तार जी के ध्यान में नहीं आ सकी और वे उसे नहीं सुधार सके। मेरे विचार से यहां पर 'वग्गणामहाबंधाणमादीए मंगलकरणादो' की जगह 'वग्गणामहाबंधाणमादीए मंगलाकरणादो' पाठ होना चाहिए। दीर्घ आ के स्थान पर ह्रस्व अ की मात्रा की अशुद्धियां तथा अन्य स्वरों में ऐसे ही व्यत्यय इन प्रतियों में भरे पड़े हैं। हमें इनके संशोधन में इस प्रकार के सुधार सैकड़ों जगह

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

करने पड़े हैं। यथार्थतः प्राचीन कन्नड़ लिपि में ह्रस्व और दीर्घस्वरों में बहुधा विवेक नहीं किया जाता था।* इस सुधार के साथ पढ़ने से पूर्वोक्त समस्त अवतरण का अर्थ, उसका सामञ्जस्य और शंका-समाधानक्रम ठीक बैठ जाता है। उससे उक्त दो अवतरणों के बीच में आये हुए उन शंका-समाधानों का भी अर्थ सुलझ जाता है जिनका मुख्तार जी के अर्थ से बिलकुल सामञ्जस्य नहीं बैठता बल्कि विरोध उत्पन्न होता है और जिन्हें संभवतः इसी अड़चन के कारण उन्होंने अपने अवतरण में छोड़ दिया है, यद्यपि वह अंश प्रकृत विषय के लिये बहुत आवश्यक था। हम उस पूरे पाठ को अपने सुधारसहित यहां उद्धृत करते हैं—

'उवरि उच्चमाणेसु तिसु खंडेसु कस्सेदं मंगलं ? तिण्णं खंडाणं। कुदो ? वग्गणामहाबंधाणमादीए मंगलाकरणादो। ण च मंगलेण विणा भूदबलिभडारओ गंथस्स पारभदि, तस्स अणाइरियत्तपसंगादो। कधं वेयणाए आदीए उत्त-मंगलं सेस-दो-खंडाणं होदि ? ण, कदीए आदिम्हि उत्तस्स एदस्सेव मंगलस्स सेस-तेवीस-अणियोगद्दारेसु पउत्तिदंसणादो। महाकम्मपयडिपाहुडत्तणेण चउवीसण्हमणियोगद्दाराणं भेदाभावादो एगत्तं, तदो एगस्स एयं मंगलं तत्थ ण विरुज्झदे। ण च एदेसिं तिण्हं खण्डाणमेगत्तमेगखंडत्तपसंगादो त्ति, ण एस दोसो, महाकम्मपयडीपाहुडत्तणेण एदेसिं पि एगत्तदंसणादो। कदि-पास-कम्म-पयडि-अणियोगद्दाराणि वि एत्थ परूविदाणि, तेसिं खण्डगंथसण्णमकाउण तिण्णि चेव खंडाणि त्ति किमट्ठं उच्चदे ? ण, तेसिं पहाणत्ताभावादो। तं पि कुदो णव्वदे ? संखेवेण परूवणादो।'

अब हम इसका अनुवाद देते हैं। पाठक ध्यान दें—

शंका—आगे कहे जानेवाले तीनों खंडों (वेदना, वर्गणा और महाबंध) में से किस खंड का यह मंगलाचरण है ?

समाधान—तीनों खण्डों का।

शंका—कैसे जाना ?

समाधान—वर्गणाखण्ड और महाबंध खंड के आदि में मंगल न किये जाने से। मंगल किये विना तो भूतबलि भट्टारक ग्रन्थ का प्रारंभ ही नहीं करते, क्योंकि इससे अनाचार्यत्व का प्रसंग आ जाता है।

शंका—वेदना के आदि में कहा गया मंगल शेष दो खंडों का भी कैसे हो जाता है ?

समाधान—क्योंकि कृति के आदि में किये गये इस मंगल की शेष तेवीस अनुयोगद्वारों में भी प्रवृत्ति देखी जाती है।

शंका—महाकर्मप्रकृतिपाहुडत्व की अपेक्षा से चौवीसों अनुयोगद्वारों में भेद न होने

* डा० उपाध्ये : परमात्मप्रकाश, भूमिका, पृ० ८३।

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

से उनमें एकत्व है, इसलिये एक का यह मंगल शेष तेवीसों में विरोध को प्राप्त नहीं होता है। परन्तु इन तीनों खंडों में तो एकत्व है नहीं, क्योंकि इन तीनों में एकत्व मान लेने पर तीनों को एकखंडत्व का प्रसंग आ जाता है ?

समाधान—यह कोई दोष नहीं, क्योंकि, महाकर्मप्रकृति-प्राभृतत्व की अपेक्षा से इनमें भी एकत्व देखा जाता है।

शंका—कृति, स्पर्श, कर्म और प्रकृति अनुयोगद्वार भी यहाँ (भूतबलि आचार्य की रचना में, प्ररूपित किये गये हैं, उनकी भी खण्ड-ग्रन्थ-संज्ञा न करके तीन ही खण्ड क्यों कहे जाते हैं ?

समाधान—नहीं, क्योंकि, उनकी यहां प्रधानता नहीं है।

शंका—यह कैसे जाना जाता है ?

समाधान—उनका संक्षेप से प्ररूपण किया गया है, इससे जाना जाता है।

इस पर से यह बात स्पष्ट समझ में आ जाती है कि उक्त मंगलाचरण का सम्बन्ध बंध-सामित्त और खुद्दाबंधखण्डों से बैठाना बिलकुल निर्मूल, अस्वाभाविक, अनावश्यक और धवलाकार के मत से सर्वथा विरुद्ध है। हम यह भी जान जाते हैं कि वर्गणाखण्ड और महाबंध के आदि में कोई मंगलाचरण नहीं है। इसी मङ्गलाचरण का अधिकार उन पर चालू रहेगा। और हमें यह भी सूचना मिल जाती हैं कि उक्त मङ्गल के अधिकारान्तर्गत तीनों खण्ड अर्थात् वेदना, वर्गणा और महाबंध प्रस्तुत अनुयोगद्वारों से बाहर नहीं हैं। वे किन अनुयोगद्वारों के भीतर गर्भित हैं यह भी संकेत धवलाकार यहां स्पष्ट दे रहे हैं। खण्डसंज्ञा प्राप्त न होने की शिकायत किन अनुयोगद्वारों से उठायी गई ? कदि, पास, कम्म और पयडि अनुयोगद्वारों की ओर से। वेदना अनुयोगद्वार का यहां उल्लेख नहीं है, क्योंकि, उसे खंडसंज्ञा प्राप्त है। मुख्तारजी ने इस संबन्ध के अवतरण में बंधन का नाम कोष्टक में अपनी ओर से जोड़ दिया है, यह सूचित करने के लिये कि वह नाम उनके मत से वहां छूट गया है। किन्तु यह मालूम नहीं पड़ता कि उक्त शिकायत में शामिल करने में उन्होंने बंधन का ही क्यों पक्षपात किया और शेष अठारह अनुयोगद्वार क्यों छोड़ दिये ? आखर उन्हें भी तो वे वेदनाखण्ड के ही भीतर कृति आदि के साथ समानरूप से स्वीकार करते हैं, और एत्थ का तात्पर्य वे वेदनाखण्ड से ही लेते हैं ? यथार्थतः यहां बंधन-अनुयोगद्वार को शामिल करने की कोई जरूरत नहीं है। धवलाकार ने उसका तथा आगे अठारह अनुयोगद्वारों का उल्लेख जान-बूझ कर किसी मतलब से छोड़ा है। और वह मतलब यह है कि बंधन के ही एक अवान्तर भेद वर्गणा से वर्गणाखण्डसंज्ञा प्राप्त हुई है और उसके एक दूसरे उपभेद बंधविधान पर महाबंध की भव्य इमारत खड़ी है। जीवट्ठाण खुद्दाबंध और बंधसामित्तविचय

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

भी इसी के ही भेद-प्रभेदों के सुफल हैं। इसलिये उन सबसे भाग्यवान पांच-पांच यशस्वी सन्तानों के जनयिता बंधन को खण्डसंज्ञा प्राप्त न होने की कोई शिकायत ही नहीं थी। शेष अठारह अनुयोगद्वारों का उल्लेख न करने का कारण यह है कि भूतबलि भट्टारक ने उनका प्ररूपण ही नहीं किया। भूतबलि की रचना तो बन्धनअनुयोगद्वार के साथ ही महाबन्ध पूर्ण होने पर समाप्त हो जाती है। इस बात की सूचना धवलाकार ने अपनी टीका में स्पष्टतः दी है। उन्होंने भूतबलिकृत बन्धनप्ररूपणा के अन्तिम सूत्र को देशामर्षकसंज्ञा देकर कहा है कि उसी में शेष अठारह अनुयोगद्वारों की सूचना गर्भित है, इसलिये वे उन अठारह की प्ररूपणा संक्षेप में स्वयं करते हैं। यथा—

भूदबलिभडारएण जेणेदं सुत्तं देसामासियभावेण लिहिदं तेणेदेण सुत्तेण सूचिद-सेस-अट्ठारस-अणियोगद्दाराणं किंचि संखेवेण परूवणं कस्सामो।

धवला अ० पृ० १३३२।

इसके आगे के ग्रन्थ को उन्हों ने इसी कारण पृथक् निर्दिष्ट करनेके लिये चूलिका नाम दिया है—

एत्तो उवरिमगंथो चूलिया णाम।

इन अठारह अनुयोगद्वारों की वीरसेनद्वारा रचना का विशद इतिहास इन्द्रनन्दि ने अपने श्रुतावतार में दिया है। देखो सं० प० भूमिका पृ० ३८, ६७।

इसी अवतरण से ऊपर और मुख्तारजी द्वारा उद्धृत निबद्ध-अनिबद्ध मंगल-सम्बन्धी अवतरण से नीचे एक और प्रकरण इसी विषय पर बहुत विशद प्रकाश डालनेवाला वर्तमान है जिसे भी मुख्तारजी ने संभवतः उक्त अड़चन के कारण ही उद्धृत करना उचित नहीं समझा। वह पूरा प्रकरण इस प्रकार है—

तत्थेदं किं णिबद्धमाहो अणिबद्धमिदि। ण ताव णिबद्धमंगलमिदं महाकम्मपयडि-पाहुडस्स कदियादि चउवीस-अणियोगावयवस्स आदीए गोदमसामिणा परूविदस्स भूद-बलिभडारएण वेयणाखंडस्स आदीए मंगलट्ठं तत्तो आणेदूण ठविदस्स णिबद्धत्त-विरोहादो। ण च वेयणाखंडं महाकम्मपयडीपाहुडं अवयवस्स अवयवित्त-विरोहादो। ण च भूदबली गोदमो विगलसुदधारयस्स धरसेणाइरियसीसस्स भूदबलिस्स सयलसुद-धारयबड्ढमाणंतेवासिगोदमत्तविरोहादो। ण च णाणो पयारो णिबद्धमंगलत्तस्स हेदु-भूदो अत्थि। तम्हा अणिबद्धमंगलमिदं। अधवा होदु णिबद्धमंगलं। कधं वेयणाखण्डादि-खण्डगयस्स महाकम्मपयडिपाहुडत्तं। ण कदिया (दि) चउवीस-अणियोगद्दारेहिंतो एयं-तेण पुधभूदमहाकम्मपयडिपाहुडाभावादो। एदेसिमणियोगद्दाराणं कम्मपयडिपाहुडत्ते संते पाहुडबहुत्तं पसज्जदे? ण एस दोसो, कथंचि इच्छिज्जमाणत्तादो। कधं वेयणाए महा-

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

परिमाणाए उवसंहारस्स इमस्स वेयणाखण्डस्स वेयणाभावो ? ण, अवयवेहिंतो एयंतेण पुधभूदस्स अवयविस्स अणुवलंभादो। ण च वेयणाए बहुत्तमणिट्ठमिच्छिज्जमाणत्तादो। कधं भूदबलिस्स गोदमत्तं ? किं तस्स गोदमत्तेण। कथमण्णहा मंगलस्स णिबद्धत्तं ? ण, भूदबलिस्स खण्डगंथं पडि कत्तारत्ताभावादो। ण च अणेण कयगंथाहियाराणं एगदेसस्स पुविल्लसद्धत्थ-संदब्भस्स परूवओ कत्तारो होदि अइप्पसंगादो। अथवा भूदबली गोदमो चेव एगाहिप्पायत्तादो। तदो सिद्धं णिबद्धमंगलत्तं पि। उवरि उच्चमाणासु तिसु खण्डेसु ....इत्यादि।

१ शंका—उनमें से अर्थात् निबद्ध और अनिबद्ध मंगलों में से यह मंगल निबद्ध है या अनिबद्ध ?

समाधान—यह निबद्ध मंगल तो है नहीं, क्योंकि कृति अनुयोगद्वार आदि चौबीस अवयवों वाले महाकर्मप्रकृतिपाहुड के आदि में गौतम स्वामी द्वारा इसका प्ररूपण किया गया है और भूतबलि स्वामी ने उसे वहां से लाकर वेदनाखण्ड के आदि में मंगल के निमित्त रख दिया है, इसलिये उसमें निबद्धत्व का विरोध है। वेदनाखण्ड कुछ महाकर्मप्रकृतिपाहुड तो है नहीं, क्योंकि अवयव को अवयवी मानने में विरोध आता है। और भूतबलि गौतम स्वामी तो हो नहीं सकते, क्योंकि, विकलश्रुत के धारक और धरसेन आचार्य के शिष्य भूतबलि में सकल श्रुत के धारक और वर्द्धमान स्वामी के शिष्य गौतमपने का विरोध है। और कोई प्रकार निबद्ध मंगलपने का हेतु है नहीं इसलिये यह मंगल अनिबद्ध मंगल है।

अथवा यह मंगल निबद्ध मंगल भी हो सकता है।

२ शंका—वेदनाखण्ड आदिखण्डों में समाविष्ट (ग्रन्थ) को महाकर्मप्रकृति प्राभृतपना कैसे प्राप्त हो सकता है ?

समाधान—नहीं, क्योंकि, कृति आदि चौबीस अनुयोगद्वारों से सर्वथा पृथग्भूत महाकर्मप्रकृतिपाहुड की कोई सत्ता नहीं है।

३ शंका—इन अनुयोगद्वारों में कर्मप्रकृतिपाहुडत्व मान लेने पर तो बहुत से पाहुड मानने का प्रसंग आ जाता है ?

समाधान—यह कोई दोष नहीं है, क्योंकि, यह बात कथंचित् अर्थात् एकदृष्टि से अभीष्ट है।

४ शंका—(गौतम स्वामी रचित) महापरिमाणवाली वेदना के उपसंहार रूप इस भूतबलि-रचित वेदनाखण्ड को वेदना (अनुयोगद्वार कैसे माना जाय ?

समाधान—नहीं, क्योंकि, अवयवों से एकान्ततः पृथग्भूत अवयवी तो पाया नहीं जाता। और इससे यदि एक से अधिक वेदना मानने का प्रसंग आता है तो वेदना के बहुत्व से कोई अनिष्ट भी नहीं, क्योंकि, वह बात इष्ट ही है।

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

५ शंका—भूतबलि को गौतम कैसे मानलिया जाय ?

समाधान—भूतबलि को गौतम मानने से प्रयोजन ही क्या है ?

६ शंका—यदि भूतबलि को गौतम न माना जाय तो मंगल को निबद्धपना कैसे प्राप्त हो सकता है ?

समाधान—नहीं, क्योंकि, भूतबलि के खण्ड ग्रन्थ के प्रति कर्तापने का अभाव है। कुछ दूसरे के द्वारा रचे गये ग्रन्थाधिकारों में से एक-देश का पूर्व प्रकार से ही शब्दार्थ और संदर्भ प्ररूपण करने वाला ग्रन्थकर्ता नहीं हो सकता, क्योंकि, इससे तो अतिप्रसंग दोष आ जायगा, अर्थात् एक ग्रन्थ के अनेक कर्ता होने का प्रसंग आ जायगा।

अथवा, दोनों का एक ही अभिप्राय होंने से भूतबलि गौतम ही है। इस प्रकार यहां निबद्धमंगलत्व भी सिद्ध हो जाता है।

यहां पर प्रथम शंका-समाधान में यह स्पष्ट कर दिया गया है कि वेदनाखण्ड के अन्तर्गत पूरा महाकम्मपयडिपाहुड का विषय नहीं है, वह उस पाहुड का एक अवयवमात्र है, अर्थात् उसमें उक्त पाहुड के चौबीसों अनुयोगद्वारों का अन्तर्भाव नहीं किया जा सकता। महाकर्मप्रकृतिपाहुड अवयवी है और वेदनाखण्ड उसका एक अवयव। दूसरे शंका-समाधान से यह सूचना मिलती है कि कृति आदि चौबीस अनुयोगद्वारों में अकेला वेदनाखण्ड नहीं फैला है किन्तु वेदना आदि खण्ड फैले हैं, अर्थात् वर्गणा और महाबन्ध का भी अन्तर्भाव वहीं है। तीसरे शंकासमाधान में महाकर्मप्रकृतिपाहुड के कृति आदि अवयवों में भी एक दृष्टि से पाहुडपना स्थापित करके चौथे शंकासमाधान में स्पष्ट निर्देश किया है कि वेदनाखण्ड गौतमस्वामिकृत बड़े विस्तार वाले वेदना-अधिकार का ही उपसंहार अर्थात् संक्षेप है। यह वेदना धवला की अ० प्रति में पृ० ७५६ पर प्रारंभ होती है, जहां कहा गया है—

वेदना और वर्गणा-खंडों की सीमाओं का निर्णय

कम्मट्ठजणियवेयण-उवहि-समुत्तिण्णणाण जिणे णमिउं।
वेयणमहाहियारं विविहहियारं परूवेमो॥

और वह उक्त प्रति के ११०६ वे पत्र पर समाप्त होती है। जहां लिखा मिलता है—

एवं वेयण-अप्पाबहुगाणिओगद्दारे समत्ते वेयणाखंड समत्तं।

इस प्रकार इस पुष्पिकावाक्य में अशुद्धि होते हुए भी वहां वेदनाखण्ड की समाप्ति में कोई शंका नहीं रह जाती।

पांचवें और छठवें शंका-समाधान में भूतबलि और गौतम में ग्रन्थकर्तृत्वरूप अभिप्राय की अपेक्षा एकत्व स्थापित किया गया है जो सहज ही समझ में आ जाता है और इस प्रकार उक्त मंगल को निबद्ध भी सिद्ध करके बता दिया गया है।

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

इस प्रकार उक्त शंका-समाधान से वेदनाखण्ड की दोनों सीमाएं निश्चित हो जाती हैं। कृति तो वेदनाखण्ड के अन्तर्गत है ही, क्योंकि, उक्त शंका-सम धान की सूचना के अतिरिक्त मंगलाचरण के साथ ही वेदनाखण्ड का प्रारम्भ माना ही गया है।

वेदनाखण्ड के विस्तार का एक और प्रमाण उपलब्ध है। टीकाकार ने उसका परिमाण सोलह हजार पद बतलाया है। यथा—

खंडगंथं पडुच्च वेयणाए सोलस-पद-सहस्साणि।

यह पदसंख्या भूतबलिकृत सूत्रग्रन्थ की अपेक्षा से ही होना चाहिए। अत एव जब-तक यह ज्ञात न हो जावे कि पद से यहां धवलाकार का क्या तात्पर्य है, तथा वेदनादि खण्डों के सूत्र अलग करके उन पर वह माप न लगाया जावे, तब-तक इस सूचना का हम अपनी जांच में विशेष उपयोग नहीं कर सकते। तो भी टीकाकार ने एक अन्य खण्ड की भी इस प्रकार पदसंख्या दी है और उस खण्ड की सीमादि के विषय में कोई विवाद नहीं है, इसलिये हमें उनकी तुलना से कुछ आपेक्षिक ज्ञान अवश्य हो जायगा। धवलाकार ने जीवट्ठाण-खण्ड की पदसंख्या अट्ठारह हजार पद बतलाई है:—

'पदं पडुच्च अट्ठारह-पद-सहस्सं' (सं० प० पृ० ६०)

इससे यह ज्ञात हुआ कि वेदनाखण्ड का परिमाण जीवट्ठाण से नवमांश कम है। जीव ट्ठाण के ४७५ पत्रों का नवमांश लगभग ५३ होता है, अतः साधारणतया वेदनाखण्ड की पत्र-संख्या ४७५ – ५३=४२२ के लगभग होना चाहिये। ऊपर निर्धारित सीमा के अनुसार वेदना की पत्रसंख्या प्रत्यक्ष में ६६७ से ११०६ तक अर्थात् ४३९ है जो आपेक्षिक अनुमान के बहुत समीप पड़ती है। समस्त चौबीस अनुयोगद्वारों को वेदना के भीतर मान लेने में तो जीवट्ठाण की अपेक्षा वेदनाखण्ड तिगुने से भी अधिक बड़ा हो जाता है।

जब वेदनाखण्ड का उपसंहार वेदनानुयोगद्वार के साथ समाप्त हो गया, तब प्रश्न उठता है कि उसके आगे के 'फास' आदि अनुयोगद्वार किस खण्ड के अंग रहे ?

वर्गणाखण्ड-निर्णय

ऊपर वेदनादि तीन खण्डों के उल्लेखों के विवेचन से यह स्पष्ट ही है कि वेदना के पश्चात् वर्गणा और उसके पश्चात् महाबन्ध की रचना है। महाबन्ध की सीमा निश्चित रूप से निर्दिष्ट है, क्योंकि धवला में स्पष्ट कह दिया गया है कि 'बन्धन' अनुयोग-द्वार के चौथे प्रभेद—बन्धविधान के चार प्रकार प्रकृति, स्थिति, अनुभाग और प्रदेशबन्ध का विधान भूतबलिभट्टारक ने महाबन्ध में विस्तार से लिखा है, इसलिये वह धवला के भीतर नहीं लिखा गया। अतः यहीं तक वर्गणाखण्ड की सीमा समझना चाहिये। वहां से आगे के निबंधनादि अठारह अधिकार टीकाकार की सूचनानुसार चूलिकारूप हैं। वे टीकाकार-कृत हैं, भूतबलिकृत नहीं।

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

उक्त खण्डविभाग को सर्वथा प्रामाणिक सिद्ध करने के लिये अब केवल उस प्रकार के किसी प्राचीन विश्वसनीय स्पष्ट उल्लेखमात्र की अपेक्षा और रह जाती है। सौभाग्य से ऐसा एक उल्लेख भी हमें प्राप्त हो गया है। मूडविद्री के पं० लोकनाथजी शास्त्री ने वीर-वाणीविलास जैन सिद्धान्तभवन की प्रथम वार्षिक रिपोर्ट (१९३५) में मूडविद्री की ताडपत्रीय प्रति पर से महाधवल (महाबंध) का कुछ परिचय अवतरणों सहित दिया है। इससे प्रथम बात तो यह जानी जाती है कि पण्डितजी को उस प्रति में कोई मंगलाचरण देखने को नहीं मिला। वे रिपोर्ट में लिखते हैं—'इसमें मंगलाचरण श्लोक, ग्रन्थ की प्रशस्ति वगैरह कुछ भी नहीं है'। पं० लोकनाथजी की यह रिपोर्ट महत्त्वपूर्ण है, क्योंकि पण्डितजी ने ग्रन्थ को केवल ऊपर नीचे ही नहीं देखा—उन्होंने कोई चार वर्ष तक परिश्रम करके पूरे महाधवल ग्रन्थ की नागरी प्रति-लिपि तैयार की है, जैसा कि हम प्रथम जिल्द की भूमिका में बतला आए हैं। अत एव उस ग्रन्थ का एक-एक शब्द उनकी दृष्टि और कलम से गुजर चुका है। उनके मत से पूर्वोक्त 'मंगलकरणादो' पद में हमारे 'मंगलाकरणादो' रूप सुधार की पुष्टि होती है।

दूसरी बात जो महाधवल के अवतरणों में हमें मिलती है, वह खण्ड-विभाग से संबन्ध रखती है। महाबन्ध पर कोई 'पंचिका' भी उस प्रति में ग्रथित है, जैसा कि अवतरण की प्रथम पंक्ति से ज्ञात होता है:—

'वोच्छामि संतकम्मे पंचियरूवेण विवरणं सुमहत्थं'

इसी पंचिकाकार ने आगे चल कर कहा है —

'महाकम्मपयडिपाहुडस्स कदि वेदणाओ (दि) चौव्वीसमणियोगद्दारेसु तत्थ कदि वेदणा त्ति अणियोगद्दाराणि जाणि वेदणाखंडम्हि, पुणो पास (कम्मपयडिबंधणाणि) चत्तारि अणियोगद्दारेसु तत्थ बंध-बंधणिज्जणामणियोगेहि सह वग्गणाखंडम्हि पुणो बंधविधाण-मणियोगो खुद्दाबंधम्हि सप्पवंचेण परूविदाणि। पुणो तेहितो सेसट्ठारसाणियोगद्दाराणि सत्तकम्मे सव्वाणि परूविदाणि। तो वि तस्सइगंभीरत्तादो अत्थविसमपदाणमत्थे-थोरुद्धएण पंचियसरूवेण भणिस्सामो'।

इस अवतरण के शब्दों में अशुद्धियां हैं। कोष्टक के भीतर के सुधारे या जोड़े हुए पाठ मेरे हैं। पर उस परसे, तथा उससे आगे जो कुछ कहा गया है उससे यह तो स्पष्ट जान पड़ता है कि यहां निबंधनादि अट्ठारह अधिकारों की पंचिका दी गई है। उन अट्ठारह अधिकारों का नाम 'संतकम्म' था, जिससे इन्द्रनन्दि के 'सत्कर्म' संबन्धी उल्लेख की पूरी पुष्टि होती है। प्राप्त अवतरण पर से महाधवल की प्रति वा उसके विषय आदि के संबन्ध में अनेक प्रश्न उपस्थित होते हैं और प्रति की परीक्षा की बड़ी अभिलाषा उत्पन्न होती है।

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

किन्तु उस सब का नियन्त्रण करके प्रकृत विषय पर आने से उक्त अवतरण में प्रस्तुतोपयोगी यह बात स्पष्ट रूप से मालूम हो जाती है कि कृति और वेदनाअनुयोगद्वार वेदनाखण्ड के तथा फास-कम्म-पयडि और बन्धन के बन्ध और बन्धनीय भेद वर्गणाखण्ड के भीतर हैं। इससे हमारे विषय का निर्विवादरूप से निर्णय हो जाता है।

प्रथम जिल्द की भूमिका में ठीक इसी प्रकार खण्ड-विभाग का परिचय कराया जा चुका है। उस परिचय की ओर पाठकों का ध्यान पुनः आकर्षित किया जाता है।

इस विवेचना की मैं श्री पं० जुगलकिशोरजी के शब्दों से अच्छे शब्दों में समाप्ति नहीं कर सकता—'आशा है सत्य के अनुरोध और भ्रामक सूचनाओं के प्रचार को रोकने की सद्भावना से लिखे हुए इस लेख से बहुतों का समाधान होगा, और वे सब इस बात का प्रयत्न करेंगे कि भविष्य में इस प्रकार की गलत सूचनाओं का अवरोध होवे, वे फैलने न पायें और हमारी लेखनी अधिकाधिक सावधान हो कर उन्नत, पुष्ट एवं निर्भ्रान्त साहित्य तय्यार करने में समर्थ हो सके।'

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

विविध विषय

(१)

हरिवंशपुराण का रचनास्थान

भास्कर की पिछली दो किरणों (भाग ६, किरण २-३) में श्रीयुत के० भुजबली शास्त्री ने श्रुतकीर्ति-रचित हरिवंशपुराण की प्रशस्तियां प्रकाशित की हैं। इसकी अपभ्रंश प्रशस्ति में लिखा है कि यह ग्रन्थ जेरहट नगर में समाप्त हुआ। उस समय मालव देश के मंडवगढ़ में गयासुद्दीन राज्य करता था। संस्कृत-प्रशस्ति निम्नलिखित है:—

'सिद्धि सम्वत् १५५३ वर्षे कत्रवदि २ दूजगुरौ दिने अद्येह श्रीमण्डपाचलदुर्गे सुलितान गयासुदीनराज्ये प्रवर्तमाने श्रीदमोवादेसे महाखानभोजखानवर्तमाने जेरहटस्थाने सोनी-श्रीईसुरप्रवर्तमाने ..... हरिवंशपुराणं परिपूर्णं कृतम्।' दोनों प्रशस्तियों में कुछ भिन्नता अवश्य है, परन्तु वह स्थान-विषयक नहीं कही जा सकती। दोनों में फर्क इतना ही है कि एक दूसरे से कुछ अधिक विस्तृत है। संस्कृत-प्रशस्ति में रचना-स्थान का पूर्ण विवरण दिया गया है, और अपभ्रंश प्रशस्ति में कुछ सामान्य। संस्कृत का मण्डपाचल और अपभ्रंश का मंडवगढ एक ही नगर है। ये मेवाड़ प्रान्तान्तर्गत मांडलगढ़ नहीं अपि तु मालवे की पुरानी राजधानी मांडू है जो किसी समय धारा नगरी से कुछ दूरी पर स्थित था और इस समय प्रायः निर्जन पड़ा हुआ है। खिलजी सुल्तान गयासुद्दीन यहीं राज्य करता था। इसी मालवा राज्य के अन्तर्गत दमोवा नामक देश अर्थात् प्रान्त था। उसका प्रान्ताधिकारी अर्थात् सूबेदार भोजखान था। दमोवा देश सम्भवतः मध्य प्रदेश का दमोह जिला है। शास्त्रीजी ने लिखा है कि सागर जिले में जेरठ नामक प्राचीन स्थान है। दमोह और सागर जिलों की सीमाएं मिलती हैं, इसलिये यह बहुत संभव है कि गयासुद्दीन के समय जेरठ दमोह प्रान्त के अन्तर्गत हो। अपभ्रंश-प्रशस्ति केवल मालव देश का नाम देकर ही रह गई। परन्तु संस्कृत-प्रशस्ति में रचयिता अपने स्थान के प्रान्ताधिकारी का नाम देकर भी सन्तुष्ट नहीं होता, बल्कि नगराधिकारी का भी नाम देता है। जेरहट नगर का तत्सामयिक अधिकारी (सम्भवतः कोतवाल) सोनी श्री ईसुर था। इस प्रकार संस्कृत-प्रशस्ति में कर्ता ने यथाशक्ति हरिवंश के रचनास्थान का विवरण दिया है। जेरहट नगर दमोवा प्रान्त में था और दमोवा प्रान्त गयासुद्दीन-द्वारा शासित मण्डपाचल-राज्य अर्थात् मालवे के अन्तर्गत था। जेरहट का शासक सोनी श्री ईसुर, दमोवा अर्थात् दमोह का भोजखान और मण्डपाचल अर्थात् मालवा का शासक गयासुद्दीन था।

—दशरथ शर्मा, एम० ए०

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

(२)

गोमट शब्द पर विचार

'विवेकाभ्युदय' में आस्थान-विद्वान् न्यायतीर्थ श्रीयुत पं० शान्तिराजजी शास्त्री मैसूर ने गोमट शब्द पर जो अपना विचार प्रकट किया है, उसका हिन्दी अनुवाद ज्यों का त्यों नीचे दिया जाता है। इस पर श्रीयुत गोविन्द पैजी तो अपना विचार प्रकट करेंगे ही। साथ ही साथ अन्यान्य अधिकारी विद्वानों को भी इस पर अपना अपना अभिमत अवश्य अभिव्यक्त करना चाहिये जिससे इस विषय का सम्मिलित अन्तिम निर्णय हो जाय।

"श्रीबाहुबलिस्वामी का 'गोमट' यह नाम अर्वाचीन है। ई० सन् ९७३-९८६ में तलकाड में राज्य करनेवाले गंगवंश के शासक राचमल्ल के मंत्री चामुण्ड राय के द्वारा श्रवणबेलगोल के विन्ध्यगिरि पर बाहुबलिस्वामी की मूर्ति प्रतिष्ठित होने के बाद ही यह गोमट नाम प्रसिद्ध हुआ। सिद्धान्तचक्रवर्ती नेमिचन्द्राचार्य चामुण्डराय के द्वितीय धर्मगुरु थे। उन्हों ने चामुण्डराय को सिद्धान्त-सम्बन्धी बातों को संग्रहरूप में समझाने के लिये रचे गये ग्रन्थ का नाम 'गोमटसार' रक्खा हैं। परन्तु सिर्फ इधर के ही कुछ ग्रन्थों में गोमट शब्द का प्रयोग देखने को मिलता है; पूर्व के किसी पुराणादि ग्रन्थों में यह दृष्टिगोचर नहीं होता। नेमिचन्द्राचार्य प्राकृत भाषा के अद्वितीय विद्वान् थे। उनकी सभी कृतियां प्राकृत भाषा-बद्ध ही हैं। उस भाषा के त्रिविक्रम व्याकरण के "गुम्म गुम्मडौ मुहेः" (३-४-१३१) इस सूत्रानुसार 'मोहक' इस अर्थ में णिजन्तार्थ में 'मुह' धातु का 'गुम्मड' आदेश होता है*। इस शब्द के डकार के स्थान में उसी व्याकरण के "गजडदब घझढधभां कचटतप खछठथफाल (३-२-६५) सूत्रानुसार टकार आकर 'गुम्मट' शब्द बनता हैं। इस मूल रूप में ही उच्चारण भेद से गोमट और गोम्मट शब्द बन गये हैं। तुलु देश (South Kanara) में "गुम्मड देवर्" यों कहने को रूढि भी इसी बात को समर्थन करती है।

ज्ञात होता है कि चामुण्डराय के द्वारा श्रवणबेलगोल में निर्मापित ५७ फीट उन्नत बाहुबली की मूर्ति अनुपम सुन्दर एवं जगन्मोहक होने से ही नेमिचन्द्राचार्य ने उस विग्रह को 'गोमट' यह नाम रखा और "गुणरत्नभूषण" "सत्ययुधिष्ठिर" "सम्यक्त्वरत्नाकर" इन उपाधियों से चामुण्डराय भी अपने गुणों से तथा गोमटविग्रह के प्रतिष्ठापक होने के नाते संसार को मोहक अर्थात् संतुष्ट करनेवाला होने से गोमट इस प्रशस्ति से उन्हीं के द्वारा विभूषित किये गये। नेमिचन्द्राचार्य ने अपने ग्रन्थ में बाहुबलिस्वामी एवं चामुण्डराय को "गोमट" नाम से सम्बोधित किया है।

*हेमचन्द्र-कृत प्राकृत व्याकरण (४, २०७) से भी इस बात की पुष्टि होती है। —के० बी० शास्त्री

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

श्रीयुत गोविन्द पैजी का पक्ष है कि "गोम्मट" शब्द मन्मथ अर्थ में निष्पन्न हुआ है। आप का कहना है कि 'प्राकृत-मंजरी' के "मन्मथे वः" "न्मो मः" इन सूत्रों से मन्मथ शब्द के प्रथम मकार का वकार, न्मकार के नकार का मकार (थकार का वकार) आदेश हो कर "वम्मह" होता है। फिर अन्तिम थकार ठकार हो "गोम्मठ" बनता है। मगर अन्तिम थकार मन्मथ शब्द में है; 'गोम्मह' शब्द में तो अन्त्याक्षर हकार है। थकार के स्थान में ठकार आने पर "मम्मठ" रूप होना चाहिये। पता नहीं है कि यह "गम्मठ" "गुम्मठ" एवं "गुम्मट" कैसे हुए। साथ ही साथ ज्ञात नहीं होता है कि ऊपर दिखलाये गये "वम्मह" रूप का सार्थक्य क्या है। बाहुबल्यर्थ में मन्मथ शब्द ही अगर "गुम्मट" शब्द व्यवहृत हुआ है तो इस मूर्ति-निर्माण के तथा नेमिचन्द्राचार्य के ग्रन्थ में इसके प्रयुक्त होने के पूर्व इस शब्द का प्रयोग क्यों नहीं हुआ—ये बातें विचारणीय हैं। क्योंकि मन्मथ शब्द पहले भी मौजूद था।

चामुण्डराय को "वीरमार्तण्ड" "वैरिकुलकालदण्ड" "समरधुरन्धर" "प्रतिपक्षराक्षस" आदि उपाधियों के होने से वह अप्रतिम पराक्रमी था यह बात स्पष्ट है। पराक्रमी पराक्रम-गुण को अपनाना पसन्द करता हैं। अत एव वह इह में अतुल पराक्रमी हो कीर्तिशाली बन कर कैवल्य-साधक श्रीबाहुबलिस्वामी को अपना अभीष्टदेव चुन कर उनकी लोकोत्तर सुन्दर मूर्ति को स्थापित कर धन्य हुआ है।"

— के० भुजबली शास्त्री

(३)

श्रीपुराण

पहले मैंने समझा था कि 'श्रीपुराण' आचार्य सकलकीर्त्ति की रचना है। इस समझ के दो कारण थे—पहला जनश्रुति, दूसरा सकलकीर्त्ति की कृतियों में भी आदिपुराण नामक ग्रन्थ का पाया जाना। फिर भी श्रीपुराण के मंगलाचरण आदि को देख कर मुझे सन्देह हुआ था अवश्य। इसीलिये भवन से प्रकाशित 'प्रशस्ति-संग्रह' के अन्तर्गत इस ग्रन्थ के परिचय में मैंने स्पष्ट लिख दिया था कि इस ग्रन्थ के रचयिता का प्रकृत पता लगाने के लिये भगवज्जिनसेन एवं आचार्य सकलकीर्त्ति के आदिपुराणों को तुलनात्मकदृष्टि से अवश्य देखना चाहिये। सकलकीर्त्ति का आदिपुराण 'भवन' में नहीं था, इसलिये उस समय मैं उससे इस श्रीपुराण का मिलान करने में असमर्थ रहा। साथ ही साथ प्रशस्ति-संग्रहान्तर्गत सभी ग्रन्थों को आमूलाग्र देखने को मुझे अवकाश मिलता नहीं है। खैर, अभी हाल में आये हुए श्री पं० नेमिराजजी शास्त्री मैसूर के पत्र से

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

ज्ञात हुआ है कि इसमें जिनसेनकृत आदिपुराण के श्लोक ही संगृहीत हैं जिनके द्वारा श्रीऋषभदेव की संक्षिप्त जीवनीमात्र संकलित है। परन्तु पता नहीं है कि इनके संग्रह-कर्त्ता कौन हैं। कुछ भी हो संक्षेप में श्रीभगवान् ऋषभदेव की जीवनी जाननेवालों के लिये यह विशेष उपयोगी है। बल्कि यह ग्रन्थ उक्त शास्त्रीजी के द्वारा कन्नड अनुवाद के साथ कन्नड लिपि में मैसूर से शीघ्र ही प्रकाशित होनेवाला है। हिन्दी अनुवाद के साथ नागरी लिपि में भी इसके प्रकाशन की आवश्यकता है। इससे मूल्य की अधिकता के कारण जो व्यक्ति आदिपुराण नहीं खरीदना चाहते हैं वे भी इसे अल्प मूल्य में खरीद कर लाभ उठा सकते हैं। खास कर व्यापारिकदृष्टि से जो ग्रन्थ प्रकाशन का व्यवसाय करते हैं उनका तो इस ओर अवश्य ध्यान जाना चाहिये।

—के० भुजबली शास्त्री

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

प्रशस्ति-संग्रह

पं. के. भुजबली शास्त्री.

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

(४३) ग्रन्थ नं० $\frac{५४}{झ}$

प्रतिष्ठा-तिलक

कर्त्ता—ब्रह्मसूरी

विषय—प्रतिष्ठा

भाषा—संस्कृत

लम्बाई ८। इञ्च चौड़ाई ६।।। इञ्च पत्र-संख्या ११२

प्रारम्भिक भाग —

जिनाधीशमहं वन्दे विध्वस्ताशेषदोषकम् ।
सर्वज्ञं सर्वशास्त्रस्य कर्त्तारं त्रिजगत्प्रभुम् ॥१॥
गणाधीशं श्रुतस्कन्धमपि नत्वा त्रिशुद्धितः ।
प्रतिष्ठातिलकं वक्ष्ये पूर्वशास्त्रानुसारतः ॥२॥
जिनेन्द्रप्रतिमान्यासः प्रतिष्ठेति निगद्यते ।
तत्पूर्विका जिनेज्या हि भुक्तिमुक्तिप्रदायिनी ॥३॥

× × ×

मध्यम भाग (पूर्व पृष्ठ ६४, पंक्ति १२)—

अथाकारशुद्धिविधानम् ।
वेदिबाह्यप्रदेशे मरुदमरकुमाराद्युपस्कारयुक्ते
कूटादावष्टपत्राम्बुजलिखितपरब्रह्ममुख्यामराढ्ये ।
विन्यस्य स्नानपीठे कुशनिहितजिनार्चामुपानीय भक्त्या
संस्थाप्याग्रस्थकुम्भांबुभिरहमुचिताकारशुद्धिं विधास्ये ॥
ॐ ह्रीं श्रीं क्लीं भूः स्वाहा । जन्माभिषेकस्थानीयमाकार-
शुद्ध्यभिषेकप्रारम्भे स्नानपीठाग्रतः पुष्पाञ्जलिं कुर्यात् ।
भेरीगंभीरनादेत्यादि पद्यपठनानन्तरं बाह्ये पृथग्वाद्यघोषणम् ।

× × × ×

अन्तिम भाग—

देशेषु सर्वेष्वधिकः सुपाण्ड्यदेशो नदीमातृकदेवमातृकः ।
चोचाम्रमोचादिसुपूगवृत्तैः संवर्द्धमानो बहुशालिभिश्च ॥१॥

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

नानाविधैर्वर्द्धितधान्यवर्गैर्वृत्तैरशेषैः फलदैः सुयोग्यैः ।
बाभाति सत्पद्मसरोवरैश्च श्रीराजहंसैर्विहगैर्नरैश्च ॥२॥
द्वीपं गुडीपत्तनमस्ति तस्मिन् हर्म्यावलीतोरणराजिगोपुरैः ।
मनोहरागारसुरत्नसंभृतैरुद्यानजैर्भात्यमरावतीव ॥३॥
तद्राजराजेन्द्रसुपाण्ड्यभूपः कीर्त्या जगद्व्याप्तिवान् सुधर्मा ।
रराज भूमाविति निस्सपत्नः कलान्वितः सद्विबुधैः परीतः ॥४॥
तत्रास्ति सद्रत्नसुवर्णतुंगचैत्यालये श्रीवृषभेश्वरो जिनः ।
विशोखनन्दीशमुनीन्द्रमुख्याः सच्छास्त्रवन्तो मुनयो वसन्ति ॥५॥
श्रीमूलसंघव्योमेन्दुर्भारते भावितीर्थकृत् ।
देशे समन्तभद्राख्यो मुनिर्जीयात्पदर्द्धिकः ॥६॥
तत्त्वार्थसूत्रव्याख्यानगन्धहस्तिप्रवर्त्तकः ।
स्वामी समन्तभद्रोऽभूद्देवागमनिदेशकः ॥७॥
शिष्यौ तदीयौ शिवकोटिनामा शिवायनः शास्त्रविदां वरेण्यौ ।
कृत्स्नं श्रुतं श्रीगुरुपादमूले ह्यधीतवन्तौ भवतः कृतार्थौ ॥८॥
तदन्वयेऽभूद्विदुषां वरिष्ठः स्याद्वादनिष्ठः सकलागमज्ञः ।
श्रीवीरसेनोऽजनि तार्किकश्रीः प्रध्वस्तरागादिसमस्तदोषः ॥९॥
तच्छिष्यप्रवरो जातो जिनसेनमुनीश्वरः ।
यद्वाङ्मयं पुरोरासीत् पुराणं प्रथमं भुवि ॥१०॥
तदीयप्रियशिष्योऽभूत् गुणभद्रमुनीश्वरः ।
शलाकाः पुरुषाः यस्य सूक्तिभिर्भूषिताः सदा ॥११॥
गुणभद्रगुरोस्तस्य माहात्म्यं केन वर्ण्यते ।
यस्य वाक्सुधया भूमावभिषिक्ता जिनेश्वराः ॥१२॥
तच्छिष्यानुक्रमे जातेऽसंख्येये विश्रुतो भुवि ।
गोविन्दभट्ट इत्यासीद् विद्वान् मिथ्यात्ववर्जितः ॥१३॥
देवागमनसूत्रस्य श्रुत्वा सद्दर्शनान्वितः ।
अनेकान्तमतं तत्त्वं बहु मेने विदाम्वरः ॥१४॥
नन्दनास्तस्य संजाता वर्धिताखिलकोविदाः ।
दाक्षिण्यात्या जयन्त्यत्र स्वर्णयक्षीप्रसादतः ॥१५॥
श्रीकुमारकविः सत्यवाक्यो देवरवल्लभः ।
उद्यद्भूषणनामा च हस्तिमल्लाभिधानकः ॥१६॥
वर्द्धमानकविश्चेति षडभूवन् कवीश्वराः ॥१६॥

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

सम्यक्त्वं सुपरीक्षितुं मदगजे मुक्ते सरण्यांपुरे-
-शस्याः(?) पाण्डयमहीश्वरेण कपटाद्धन्तुं स्वमभ्यागते ।
शैलूषं जिनमन्त्रवारिणमुपास्यास्मिन्मदं ध्वंसति
श्लोकेनागतहस्तिमल्ल इति यः प्रख्यातवान् सूरिभिः ॥१७॥
श्रीवत्सगोत्रजनिभूषणगोपभट्टप्रेमैकधामतनुजो भुवि हस्तियुद्धात् ।
नानाकलाम्बुनिधिपाण्डयमहीश्वरेण श्लोकैः शतैः सदसि सत्कृतवान् बभूव ॥१८
तद्धस्तिमल्लतनुजो भुवि सुप्रसिद्धः सद्धर्मपालकमहोज्ज्वलकीर्तिनाथः ।
तद्धर्म (?) वर्द्धयितुमप्यखिलागमज्ञः श्रीपार्श्वपण्डितबुधोऽविशदन्यराजकम् ॥१९ ।
श्रीवत्सकाश्यपवशिष्ठप्रशस्तभारद्वाजोल्लसद्गौतमभार्गवैश्च ।
आत्रेयकौण्डिनिमहत्समगस्त्यविश्वामित्रैः सुगोत्रैः सह बन्धुभिश्च ॥२०॥
एकैकस्मात्कारणात्तां पुरीं तद्धित्वा गत्वा विषयसंमंगलं च ।
तस्मात्तैः सार्द्धं सदाचारनिष्ठो देशं चागाद् होय्सालाख्यं प्रतीतम् ॥२१॥
पृथ्वीतले होय्सलदेशनाम्नि क्षुत्त्रयाभिख्यपुरी च तस्याम् ।
संराजते चाष्टमतीर्थनाथो विचित्रचित्रान्वितचैत्यगेहे ॥२२॥
तच्चन्द्रनाथजिनपादसरोजभृङ्गस्तां पार्श्वपण्डितबुधोऽप्यविशत्सबन्धुः ।
तत्सूनवश्चन्द्रपचन्द्रनाथवैजय्यजीयाश्च क्रमाद्बभूवुः ॥२३॥
चन्द्रनाथसुताद्याश्च सर्वे हेमाचले स्थिताः ।
तस्यानुजौ यथायोग्यदेशे वासं गतौ च तौ ॥२४॥
सद्वर्तनानुचरितोज्ज्वलचन्द्रपार्यसूनुः सुशास्त्रविदभूद्विजयद्विजोत्तमः ।
तत्सम्भवः सकलशास्त्रकलाधिनाथो नाम्नेन्द्र×××विजयो जिनयाजजूकः ॥२५॥
शास्त्राम्भोजातभास्वज्जिनपदनखसच्चन्द्रिकासच्चकोरम्
विजयेन्द्रं सुषुवे हि तत्प्रणयिनी श्रीनामधेया च यम् ।
सद्धर्माब्धिसुपूर्णचन्द्रमम सम्यक्त्वरत्नाकरम्
तत्पुत्रं खलु ब्रह्मसूरिणमिति ख्यातभाग्योदयम् ॥२६॥
षट्कर्मवैद्यागमशब्दशिल्पज्योतिष्ककाव्योचितनाटकञ्च ।
सङ्गीतसाहित्यकवित्वछन्दोऽलङ्कारशास्त्रं स विवेद सर्वम् ॥२७॥
वृत्तानुयोगाद्युदितप्रपञ्चविस्तारवेदी सकलानुवादी ।
तत्तच्चतुर्थाहतवेदशास्त्रकलागुरुः स्वकुलमलञ्चकार ॥२८॥
श्रीचन्द्रप्रभतीर्थनाथपदपद्मामोदसंसक्तभृङ्गः ।
सर्वकलाविचारचतुरः संसेव्यमानो नृपैः ।

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

चार्वाकादिसुवादिपर्वतपविः सर्वज्ञसंस्थापकः ।
वाग्देवीभजनादितीदमवदत् तद्ब्रह्मसूरी मुदा ॥२९॥
सारं सारं प्रोक्तमित्यत्र शास्त्रे सर्वं लक्ष्यं लक्षणन्त्वेतदेव ।
छन्दोऽलङ्कारादितश्चानघं सज्जीयाल्लोके बन्धुरं सर्वकालम् ॥३०॥
इति प्रतिष्ठातिलकोदितक्रमात् करोति यो भव्यजनप्रमोदताम् ।
जिनप्रतिष्ठां परमार्थनिष्ठां सद्ब्रह्म यास्यत्यचिरात् सुसौख्यम् ॥३१॥

इस प्रतिष्ठातिलक के कर्त्ता ब्रह्मसूरी ने अपना वंश-परिचय निम्नलिखित रूप से दिया है :—

पाण्ड्यदेश में गुडिपत्तन नाम का एक नगर है। यहाँ का राजा पाण्ड्यनरेन्द्र है। यह बड़ा ही धर्मिष्ठ, शूर-वीर, कला-कुशल तथा पण्डित-सेवी है। यहीं श्रीवृषभ तीर्थङ्कर का एक मनोज्ञ रत्नजटित सुवर्णमय मन्दिर है। इसमें विशाखनन्दी आदि अनेक विद्वान् मुनिगण वास करते हैं। कवि ने आगे प्रख्यात पुराणप्रणेता भगवज्जिनसेनाचार्य की परम्परागत श्रीगोविन्द भट्ट को ही अपना पूर्वज बतलाकर निम्न प्रकार से अपनी वंश-तालिका अंकित की है :—

गोविन्दभट्ट के श्रीकुमार, सत्यवाक्य, देवरवल्लभ, उदयभूषण, हस्तिमल्ल और वर्द्धमान नाम के छः लड़के थे। सुप्रसिद्ध कवि हस्तिमल्ल के पुत्र पण्डित पार्श्व हुए। वह अपने पिता के समान यशस्वी, धर्मात्मा एवं शास्त्रमर्मज्ञ विद्वान् थे। पीछे पार्श्व पाण्ड्य देश से काश्यप, वशिष्ठ आदि अपने गोत्रज बन्धुओं के साथ होय्सलदेश में आकर रहने लगे। यह होय्सलवंश पश्चिमी घाटी की पहाड़ियों में कडूर जिले के मद्गिरि तालुक में अंगडि नामक स्थान से प्रादुर्भूत हुआ था। इसका प्राचीन नाम शशकपुर है। यहां पर सळ नामक एक सामन्त ने एक व्याघ्र से जैनमुनि की रक्षा करने के हेतु होय्सळ नाम प्राप्त किया था। विद्वानों का कहना है कि प्रारंभ में होय्सळवंश पहाड़ी था। पीछे विनयादित्य के उत्तराधिकारी ने अपनी राजधानी शशकपुरी से बेलूर में हटाली। द्वारसमुद्र (हळेबीडु) में भी उनकी राजधानी थी। इस वंश के विष्णुवर्द्धन के समय होय्सळ नरेशों का प्रभाव बहुत बढ़ गया था। इसी समय गंगवाडि का पुराना राज्य सब उनके अधीन हो गया था और इन्होंने कई अन्य प्रदेशों को भी जीत लिया था। प्रारंभ में विष्णु-वर्द्धन जैनधर्मावलम्बी रहा; किन्तु पीछे वैष्णव हो गया था। फिर भी जैनधर्म से उसकी सहानुभूति बनी ही रही। होय्सळ राज्य पहले चालुक्य-साम्राज्य के अन्तर्गत था। पीछे नरसिंह के पुत्र वीरबल्लाल के समय में वह स्वतन्त्र हो गया। यह वंश जैनियों का विशेष रूप से पृष्ठपोषक था।

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

उल्लिखित राज्य की राजधानी ग्रन्थकर्ता ने छत्रत्रयपुरी लिखी है। ऐतिहासिक प्रमाणों से इस वंश की राजधानी केवल तीन स्थानों में थी, जिनके नाम क्रम से शशकपुर, बेलूरु और द्वारसमुद्र थे। पता नहीं कि छत्रत्रयपुरी से ब्रह्मसूरी जी किस स्थान का संकेत करते हैं। बहुत संभव है कि द्वारसमुद्र को ही इन्होंने छत्रत्रयपुर लिख दिया हो।

अस्तु, उक्त पार्श्वपण्डित को चन्द्रप, चन्द्रनाथ और वैजय्य नाम के तीन पुत्र थे। इनमें से चन्द्रनाथ और इनके परिवार पीछे हेमाचल में जा बसे। शेष दो भाई अन्यान्य स्थानों में चले गये। चन्द्रप के पुत्र विजयेन्द्र हुए और इन्हीं के लड़के इस ग्रन्थ के रचयिता परम धार्मिक सर्व शास्त्र-निष्णात एवं चारित्रचंचरीक श्रीब्रह्मसूरी जी हैं।

---

(४४) ग्रन्थ नं० $\frac{५५}{झ}$

प्रतिष्ठाकल्प

कर्त्ता—भट्टाकलंक

विषय—प्रतिष्ठा

भाषा—संस्कृत

लम्बाई ८। इञ्च चौड़ाई ६।।। इञ्च पत्र-संख्या ८०

प्रारम्भिक भाग—

विज्ञानं विमलं यस्य विशदं विश्वगोचरम्।
नमस्तस्मै जिनेन्द्राय सुरेन्द्राभ्यर्चितांघ्रये ॥१॥
वन्दित्वा च गणाधीशं श्रुतस्कन्धमुपास्य च।
पेदंयुगीनानाचार्यानपि भक्त्या नमाम्यहम् ॥२॥
अथ श्रीनेमिचन्द्रीयप्रतिष्ठाशास्त्रमार्गतः।
प्रतिष्ठायास्तदाद्यङ्गरांगानां स्वयमङ्गिनाम् ॥३॥
इन्द्रप्रतिष्ठावभृथाद्यन्तानां कृत्स्नकर्मणाम्।
अवान्तरक्रियाणां च लक्षणप्रतिपादकः ॥४॥
प्रतिष्ठाकल्पनामासौ ग्रन्थः सारसमुच्चयः।
भट्टाकलंकदेवेन साधु संगृह्यते स्फुटम् ॥५॥

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

पुरातनेषु तन्त्रेषु किञ्चित्सूत्रसमुच्चितम् ।
किञ्चित्प्रयोगसंसिद्धं किञ्चित्कर्मान्तरस्थितं ॥६॥
मंत्रकाण्डगतं किञ्चित् किञ्चित्तन्त्रान्तरोदितम् ।
इत्येवं विप्रकीर्णं तल्लक्ष्म नैकत्र सञ्चितम् ॥७॥
अवगम्य तदेकत्र नेयं प्रकृतकर्मणः ।
सिद्ध्यर्थं प्रौढसाध्यं तन्मन्दानां नैव गोचरः ॥८॥
अतो मन्दावबोधार्थं लक्ष्म यत्रत्र योजितम् ।
तत्रैव क्रियतेऽत्रेति सफलो मे परिश्रमः ॥९॥
श्लोकाः पुरातनाः केचिद्विलिख्य लक्ष्मबोधकाः ।
प्रायस्तदनुसारेण मदुक्ताश्च क्वचित्क्वचित् ॥१०॥
यत्साक्षाद्यच्च लक्ष्मेषद्ग्रथावधानेऽप्यपेक्षितम् ।
संगृह्यते तदेवात्र न पारंपर्यवाञ्छितम् ॥११॥
पारम्पर्यारवेणात्र संहिता-शास्त्र-भाषितम् ।
नोच्यते किन्तु तद्वै व (?) यच्छास्त्रान्तरगोचरः ॥१२॥
तथाहीह प्रतिष्ठांगक्रियानिर्वहणाय हि ।
तत्कर्तुर्नियमेनात्रोपासकाध्ययनागमे ॥१३॥
पुराणाद्यात्मशकुनवास्तुज्योतिषशास्त्रगम् ।
सामान्यैरपि राजाद्यैर्महामुकुटशोभिभिः ॥१४॥
ज्ञानमावश्यकं तत्तु संख्या व्याकरणाद्विना ।
न भवेदिति तल्लक्ष्म वेद्यं तत्रैव नात्र तु ॥१५॥

× × ×

मध्य भाग (पूर्व पृष्ठ ३१, पंक्ति ६)—

अथैवमङ्कुरारोपस्तद्रात्रौ होमकर्म च ।
इत्युक्तं प्राक् ततोऽत्रैव तद्विधानं निरूप्यते ॥
मण्डपस्य च वेद्याश्च कुण्डानां चापि लक्षणम् ।
वक्ष्यतेऽग्रे प्रपञ्चेन यागशालाप्रवेशने ॥
अत्र कर्मानुपूर्वी च तल्लक्ष्म च केवलम् ।
पूर्वसूरिवचो दृष्ट्वा कथ्यते साधु तद्यथा ॥
होमकर्मणि पूर्वांगत्वेन पुण्याहवाचना ।
कर्त्तव्या सापि संकल्पपूर्विका नवकेवला ॥

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

इति संकल्प्य पुरयाहे क्रियमाणे तदन्तरे ।
अस्ति क्रियाविशेषोऽतः साबम्बप्राग्निरूपिते ॥
होतुरासनविन्यासः कुण्डात् प्रागिति वक्ष्यते ।
तस्य कुण्डस्य चेत्येतद्दुभयोरन्तरालके ॥
प्रस्थं प्रस्तीर्य शालीनां तदूर्ध्वं तण्डुलानपि ।
तत्र स्वस्तिकमालिख्य कोष्ठगश्रीचतुष्टयम् ॥
मायाक्षरं वृतं तत्र तीर्थाम्बुपरिपूरितम् ।
पल्लवादर्शशोभाढ्यगन्धपुष्पाक्षताञ्चितम् ॥
तण्डुलामात्रपिहितं कुशकूर्चोपलक्षितम् ।
श्वेतसूत्रावृतं पञ्चरत्नकाञ्चनगर्भितम् ॥
श्रीखण्डपंकसंलग्नाक्षतविक्षेपलक्षितम् ।
धौतप्रत्यग्रधवलवासोमण्डितकन्दरम् ॥

× × ×

अन्तिम भाग—

इत्यार्षे श्रीमद्भट्टाकलंकदेवसंगृहीते प्रतिष्ठाकल्पनाम्नि ग्रन्थे सूत्रस्थाने प्रतिष्ठाद्वितीय-तृतीयदिवसविधिनिरूपणीयो नामैकोनविंशः परिच्छेदः ।

प्रतिष्ठाकल्प, अकलङ्कसंहिता अथवा अकलङ्कप्रतिष्ठापाठ के नाम से प्रसिद्ध यह ग्रन्थ राजवार्तिक, अष्टशती आदि ग्रन्थों के रचयिता विक्रम की ८वीं शताब्दी के विद्वान् भट्टाकलङ्कदेव की कृति माना जाता है। इस ग्रन्थ में तो इसकी रचना का समय नहीं दिया है, परन्तु ग्रन्थों की सन्धियों में ग्रन्थकर्त्ता का नाम 'भट्टाकलङ्कदेव' अवश्य दिया है। सन्धियों में ही नहीं, पद्यों में भी ग्रन्थकर्त्ता ने अपना नाम भट्टाकलङ्कदेव प्रकट किया है। इस ग्रन्थ के सम्बन्ध में पण्डित जुगलकिशोर जी मुख्तार का कहना है कि सन्धियों और पद्यों में भट्टाकलङ्कदेव का नाम लगा होने से ही यह ग्रन्थ राजवार्तिक के कर्त्ता का बनाया हुआ समझ लिया गया है। अन्यथा, ऐसा समझने में और कथन करने की कोई दूसरी वजह नहीं है। भट्टाकलङ्कदेव के बाद होनेवाले किसी माननीय प्राचीन आचार्य की कृति में भी इस ग्रन्थ का कोई उल्लेख नहीं मिलता है। प्राचीन शिलालेख भी इस विषय में मौन हैं। साथ ही साथ भट्टाकलंकदेव के साहित्य और उन की कथन-शैली से इस ग्रन्थ के साहित्य और कथनशैली का कोई मेल नहीं है। इसका अधिकांश साहित्य-शरीर ऐसे ग्रन्थों के आधार पर बना हुआ है, जिनका निर्माण भट्टाकलङ्कदेव के अवतार से बहुत पीछे के समयों में हुआ है।

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

मुख्तार साहब ने अपनी इस बात को प्रमाणित करने के लिये भगवज्जिनसेन (वि० ९वीं शताब्दी)-प्रणीत आदिपुराण, आचार्य शुभचन्द्र (लगभग वि० ११वीं शताब्दी)-कृत ज्ञानार्णव, भट्टारक एकसन्धि (वि० १३वीं शताब्दी)-रचित एकसंधि-संहिता, पण्डित आशाधर (वि० १३वीं शताब्दी)-प्रणीत जिनयज्ञकल्प, श्रीब्रह्मसूरि (लगभग वि० १५वीं शताब्दी)-विरचित प्रतिष्ठापाठ, श्रीनेमिचन्द्र (लगभग वि० १६वीं शताब्दी)-अङ्कित प्रतिष्ठातिलक, श्रीसोमसेन (वि० १७वीं शताब्दी)-प्रणीत त्रिवर्णाचार के पद्यों को उद्धृत किया है। इन पद्यों में मंगलाचरण भी गर्भित है। पं० जुगल किशोर जी के ख़याल से इसकी रचना विक्रम की १६ वीं या १७ वीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में हुई है और यह अकलंक या अकलंकदेव नाम के किसी भट्टारक या विद्वान् की रचना है। मालूम होता है कि इन्होंने अपने नाम के साथ स्वयं ही 'भट्ट' की महत्त्वसूचक उपाधि को धारण करना पसन्द किया है। इस सम्बन्ध में विशेष बात जानने के लिये 'ग्रन्थ-परीक्षा' भाग ३य का अवलोकन करना चाहिए।

---

(४५) ग्रन्थ नं० $\frac{५७}{झ}$

परसमय ग्रन्थ

कर्त्ता—(संगृहीत)

विषय—जैनाचारमण्डन

भाषा—संस्कृत

लम्बाई ८॥ इञ्च चौड़ाई ६।॥ इञ्च पत्र-संख्या २०

प्रारम्भिक भाग—

श्रूयतां धर्मसर्वस्वं श्रुत्वा चैवावधार्यताम्।
आत्मनः प्रतिकूलानि परेषां न समाचरेत्॥
कथमुत्पद्यते धर्मः कथं धर्मो विवर्द्धते।
कथं संस्थाप्यते धर्मः कथं धर्मो विनश्यति॥
सत्येनोत्पद्यते धर्मो दयादानेन वर्द्धते।
क्षमया स्थाप्यते धर्मः क्रोधलोभाद्विनश्यति॥
अहिंसासत्यमस्तेयं त्यागो मैथुनवर्जनम्।
पञ्चस्वेतेषु धर्मेषु सर्वे धर्माः प्रतिष्ठिताः॥

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

तिलोयपण्णत्ती

प्रोफेसर ए. एन. उपाध्ये.

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

सोहम्मसु दस्स य वाहणदेवा हुवंति चित्तरया ।
दक्खिणउत्तरपासेसु तिप(?) वरदिव्वरूवधरा ॥१४३॥
अभियोगपुराहिंतो गंतूणं पंचजोयणाणि तदो ।
दसजोयणवित्थिण्णं वेयड्ढगिरिस्स वरसिहरं ॥१४४॥
तियसिंदचावसरिसं विसालवरवेदियाहिं परियरियं ।
बहुतोरणदारजुदं[1] विचित्तरयणम्मि रमणिज्जं ॥१४५॥
तत्थ समभूमिभागे [2]पुरंतवररयणकिरणणियरम्मि ।
चेट्ठंते णव कूडा कंचणमणिमंडिया दिव्वा ॥१४६॥
णामेहिं सिद्धकूडो पुव्वदिसंतो तदो भरहकूडो ।
खंदप्पवादणामो तुरिमो तह माणिभद्दो त्ति ॥१४७॥
विजयड्ढकुमारो पुण्णतिमिस्सं गुहाविधाणो य ।
उत्तरभरहो कूडो पच्छिमयंतम्मि वेसमणा ॥१४८॥
कूडाणं उच्छेहो पुहपुह छज्जोयणाणि इगिकोसं ।
तेत्तियमेत्तं णियमा हुवेदि मूलम्मि विक्खंभा ॥१४९॥

जो ६ को १ जो ६ को १ जो ४ को १ जो ३ १
२

तस्सद्धं वित्थारो पत्तेक्कं होदि कूडसिहरम्मि ।
मूलसिहराणि रुंदं मेलियदलिदम्मि मज्झस्स ॥१५०॥
आदिमकूडे[3] चेट्ठदि जिणिंदभवणं[4] विचित्तधयमालं ।
वरकंचणरयणमयातोरणजुत्तं विमाणं च ॥१५१॥
दीहत्थमेक्ककोसो विक्खंभो होदि कोसद्धसम्मेत्तं ।
गाउतियचरणभागो उच्छेहो जिणणिकेदस्स ॥१५२॥

को १ । १ । ३ ।
२ ४

कंचणपायारत्तयपरियरिओ गोउरेहिं संजुत्तो ।
वरवज्जणीलविज्जुमम[5] रगयवेरुलियपरिणामो ॥१५३॥
लंबंतरयणदामो णाणाकुसुमोपहारकयसोहो ।
[6]गोसीसमलयचंदणकालागुरु[7]धूवगंधड्ढो ॥१५४॥

1 D हारजुदं; 2 पुरत्त (फुरंत ?); 3 D कूडो; 4 D जिणंद; 5 विद्रुम(?); 6 ABS गोसीर; 7 ABS कालागरु ।

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

वरवज्जकवाडजुदो बहुविहदारेहिं सोहिदो विउलो ।
वरमाणथंभसहिओ जिणिंदगेहो णिरुवमाणो ॥१५५॥
भिंगारकलसदप्पणचामरघंटादवत्तपहुदीहिं ।
पूजादव्वेहिं तदो विचित्तवरवत्थसोहिं वा ॥१५६॥
पुण्णायचंपयअसोयवउलादिरुक्खपुण्णेहिं ।
उज्जाणेहिं सोहदि विविहेहिं जिणिंदपासादो ॥१५७॥
सच्छजलपूरिदाहिं कमलुप्पलसंडमंडणधराहिं ।
पोक्खरणीहिं रम्मो मणिमयसोहाण[1]मालाहिं ॥१५८॥
तस्सि जिणिंदपडिमा अट्ठमहामंगलेहिं संपुण्णा ।
सीहासणादिसहिदा चामरकरणागजक्खमिहुणजुदा ॥१५९॥
भिंगारकलसदप्पणवीयणधयछत्तचमरसुपइट्ठा ।
इय अट्ठमंगलाइं पत्तेक्कं अट्ठअधियसयं ॥१६०॥
कित्तीए वण्णिज्जइ जिणिंदपडिमा य सासदड्ढीए[2] ।
जो हरइ सयलदुरियं सुमरणमेत्तेण भव्वाणं ॥१६१॥
एवं हि रूवं पडिमं जिणस्स तत्थट्ठिदं भत्तिए सच्छचित्ता ।
झायंति केई सुविणट्ठकम्मा ते मोक्खमाणं सकलं लहंते ॥१६२॥
एसा जिणिंदप्पडिमा जणाणं[3] झाणं ति णिच्चं सुबहुप्पयारं ।
भावाणुसारेण अणंतसोक्खं[4] णिस्सेयसं अब्भुदयं च देदि॥१६३॥
भरहादिसु कूडेसुं अट्ठसु वंतरसुराण पासादा ।
वररयणकंचणमया वेदीगोउरदुवारकयसोहा ॥१६४॥
उज्जाणेहिं जुत्ता मणिमयसयणासणेहिं परिपुण्णा ।
णच्चंतधयवडाया बहुविहवण्णा विरायंति ॥१६५॥
बहुदेवदेविसहिदा वंतरदेवाण होंति पासादा ।
जिणवरभवणपवण्णिदपासादसरिच्छरुंदादी ॥१६६॥

को १ । १।३ ।

२ ४

भरहे कूडे भरहो विंदपवादम्मि णट्टमालसुरो ।
कूडम्मि माणिभद्दे अहिवइदेवो अ[5] माणिभद्दो त्ति ॥१६७॥

---

1 सोवाण (?); 2 ABS सासदरिद्धीए; 3 D जिणाणं; 4 D सोक्खं पि; 5 ब (?)।

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

वेदड्ढकुमारसुरो वेयड्ढकुमारणामकूडम्मि ।
चेट्ठेदि पुण्णभद्दो अहिण्णामो होइ पुण्णभद्दम्मि ॥१६८॥
तिमिसगुहम्मि य कूडे देवो णामेण वसदि कदमालो ।
उत्तरभरहे कूडे अहिवइदेवो भरहणामो ॥१६९॥
कूडम्मि य वेसमणे वेसमणो णाम अहिवरो देवो ।
दसधणुदेहुच्छेहो सव्वे ते एक्कपल्लाऊ ॥१७०॥
बेगाऊवित्थिण्णा दोसु वि पासेसु गिरिसमायामा ।
वेयड्ढम्मि गिरिंदे वणसंडा होंति भूमितलिं ॥१७१॥
दोकोसुं वित्थारो पणसयचावा पमाणरुंदो उ ।
वणवेदीआयारो[1] होंति (?) हु तोरणदारेहिं संजुत्तो ॥१७२॥
चरियट्टालयचारू णाणाविहजंतलक्खसंकुण्णा !
विविहवररयणखचिदा णिरुवमसोहा हि वेदीओ ॥१७३॥
सव्वेसु उववणेसुं वेंतरदेवाण होंति वरणयरा ।
पायारगोउरजुदा जिणभवणविभूसिया विउला ॥१७४॥
रजदणगे दोण्णि गुहा पण्णासा जोयणाणि दीहाओ ।
अट्ठं उव्विड्ढाओ बारसविक्खंभसंजुत्ता ॥१७५॥

५० । ८ । १२ ।

पुव्वाए तिमिसगुहा खंदपवालादिसाए अवरधरा ।
वज्जकवाडाहि जुदा अण्णादिणिहणा हि सोहंति ॥१७६॥
जमलकवाडा दिव्वा होंति हु छज्जोयणाणि वित्थिण्णा ।
अट्ठे वयसद्धाओ[2] दोसु वि गुहासु दाराणि पत्तेक्कं ॥१७७॥
पण्णासजोयणाणिं वेयड्ढगस्स मूलवित्थारो ।
तं भरहादो सोधय सेसद्धं दक्खिणद्धं तु ॥१७८॥
दुसया अट्ठत्तीसं तिण्णि कलाओ य दक्खिणद्धम्मि ।
तस्स सरिच्छपमाणो उत्तरभरहो हि णियमेण ॥१७९॥

२३८ । ३ ।

१९

रुंदद्धं इसुहीणं वग्गिय अवणिज्ज रुंददलवग्गे ।
सेसं चउगुणमूलं जीवाए होदि परिमाणं ॥१८०॥

---

1 A आयारा; 2 D सिद्धाओ ।

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

बाणजुदरुंदवग्गो[1] रुंदकदी सोधिदूण दुगुणकदो ।
जं लद्धं तं होदि हु करणीचावस्स परिमाणं ॥१८१॥
जीवकदी तुरिमं सासावद्धकदी य सोहिदूण पदं ।
रुंदद्धम्मि विहीणो अद्धं बाणस्स परिमाणं ॥१८२॥
जोयणा य णवसहस्ससत्तसया अट्ठतालसंजुत्ता ।
बारसकलाओ अधिओ रजदाचलदक्खिणो जीओ[2] ॥१८३॥

९७४८ । १२ ।

१९

तंजीवाए चावं णव य सहस्साणि जोयणा होंति ।
सत्त सया छासट्ठी एक्क कला किंचि अधिरेक्को[3] ॥१८४॥

९७६६ । १ ।

१९

वीसुत्तरसत्तसया दस य सहस्साणि जोयणा होंति ।
एक्कारसकलअहिया रजदाचलउत्तरे जीवा ॥१८५॥

१०७२० । १० ।

१९

एदाए जीवाए धणुपट्ठं दससहस्ससत्तसदा ।
तेदालजोयणाइं पण्णरसकला य अधिरेओ[4] ॥१८६॥

१०७४३ । १५ ।

१९

जेट्ठाए जीवाए मज्झे सोहेसु जहण्णजीवस्स ।
सेसदलं चूलीओ हुवेदि वंसेयसेले उ[5] ॥१८७॥
चत्तारि सयाणि तहा पणुसीदीजोयणेहिं जुत्ताइं ।
सत्ततोसद्धकला परिमाणं चूलियाइरिमं ॥१८८॥

४८५ । ३७ ।

जेट्ठम्मि चावपट्ठे सोहेज्ज कणिट्ठचावपट्ठं ति ।
सेसद्दलपयसभुजा हुवेदि वरिसम्मि सेले य ॥१८९॥
चत्तारि सयाणि तहा अडसीदीजोयणेहिं जुत्ताणि ।
तेत्तोसद्धकलाओ गिरिस्स पुव्वावरम्मि पस्स भुजा ॥१९०॥

---

1 D वग्गो; 2 D दीउ; 3 D अधिवेको; 4 D अधिवेओ; 5 सेले व (?) ।

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

४४ । ३३ ।
२
१९
। पदा[1] सम्मत्ता ।

चोद्दससहस्सजोयणचउस्सया एक्कसत्तरीजुत्ता ।
पंचकलासा[2] सेसे जोवा भरहस्स उत्तरे भाए ॥१९१॥
१४४७१ । ५ ।
१९

भरहस्स चावपट्ठं पंचसयावहियचउद्दससहस्सा ।
अडवीस जोयणाइं हुवंति एक्कारस कलाउ ॥१९२॥
१४५२८ । ११ ।
१९

जोयणसहस्समेक्कं अट्ठसया पंचहत्तरीजुत्ता ।
तेरसअद्धकलाओ भरहखिदीचूलिया एसा ॥१९३॥
१८७५ । १३ ।
२
१९

एक्कसहस्सट्ठसया बाणउदी जोयणाणि भागा वि ।
पण्णारसद्धं एसा भरहखेत्तस्स पस्स भुजा ॥१९४॥
१८९२ । १५ ।
२
१९

हिमवंताचलमज्झे पउमदहो पुव्वपच्छिमायामो ।
पणसयजोयणरुंदो तद्दुगुणायामसंपण्णो ॥१९५॥
५०० । १००० ।

दसजोयणावगाढो चउतोरणवेदियाहिं संजुत्तो ।
तस्सिं पुव्वदिसाए णिग्गच्छदि णिम्मगा गंगा ॥१९६॥
[3]छज्जोयणेक्कोसा णिग्गदठाणम्मि होदि वित्थारा ।
गंगातरंगिणीए उच्छेदो[4] कोसदलमेत्ता ॥१९७॥

1 ABS एदा ; 2 कलंसा (?) ; 3 BS छजोयणे ; 4 B उच्चेदो, A उव्वेदो ।

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

गंगाणइए[1] णिग्गमट्ठाणे चिट्ठेदि तोरणो दिव्वो।
णवजोयणाणि तुंगो दिवड्ढकोसादिरित्तो य ॥१९८॥

९ । ३ ।

२

चामरघंटाकिंकिणिवंदणमाला सहेइ कयसोहा।
भिंगारकलसदप्पणपूयणदव्वेहिं रमणिज्जा ॥१९९॥
रयणमयथंभजोजिदविचित्तवरसालभंडियारम्मो।
वज्जिंदणीलमरगयकक्केयणपउमरायजुदा ॥२००॥
ससिकंतसूरकंतप्पमुहमईखेहि[2] णासियतमोघो।
लंबंदकणयदामो अणाइणिहणो अणुवमाणो ॥२०१॥
छत्ततयादिसहिदा वररयणमईओ फुरिदकिरिणोघा।
सुरखेयरमहिदाओ जिणपडिमा तोरणुवरि णिवसंति ॥२०२॥
तम्हि समभूमिभागे पासादा विविहरयणकणयमया।
वज्जकवाडेहिं जुदा चउतोरणवेदियाजुत्ता ॥२०३॥
एदेसु मंदिरेसुं होंति दिसाकण्णयाउ देवीओ।
बहुपरिवाराणुगदा[3] णिम्मललावण्णरूवगदा ॥२०४॥
पउमदहादु दिसाए पुव्वाए थोवभूमिमेत्तंमि।
गंगाणईए मज्झे उब्भासदि एउ मणिमयकूडो ॥२०५॥
वियसियकमलायारो रम्मो वेरुलियणालसंजुत्तो।
तस्स दला अहिरत्तो पत्तेक्कं कोसदलमेत्तं ॥२०६॥
सलिलादु[4] वरीउदओ एक्कं कोसं हुवेदि एदस्स।
दोकोसो वित्थारो चामीयरकेसरेहिं संजुत्तो ॥२०७॥
इगिकोसोदयरुंदो रयणमई तस्स कण्णिया होदि।
तीए उवरिं चेट्ठदि पासादो मणिमओ दिव्वो ॥२०८॥
तप्पासादा णिवसदि वेंतरदेवी बलेत्ति विक्खादो[5]।
[6]एक्कपलिदोवमाऊ बहुपरिवारेहि संजुत्ता ॥२०९॥
एवंपउमदहादो पंचसयाजोयणाणि गंतूणं।
गंगाकूडमपत्तो[7] जोयणअद्धेण दक्खिणावलिया ॥२१०॥

1 B गंगाइए; 2 मऊखेहि (?); 3 A S B मदा; 4 D सलिलाओ दुवरी;
5 विक्खादा (?); 6 ASB एक्का; 7 D कूडपमत्तो।

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

चुल्लहिमवंतरुंदे णइरुंधस्सोधिदूण[1] अद्धकदो ।
दक्खिणभागे पव्वदउवरिम्मि हवेदि णइदोहं ॥२११॥
पंचसयातेवीसं अट्ठहिदा ऊणतीसभागा या ।
दक्खिणदो आगच्छिय गंगागिरिजिब्भियं पत्ता ॥२१२॥

५२३ । २९ ।

१९

हिमवंतयंतमणिमयवरकूडमुहम्मि वसहरूवंमि ।
पविसिय णिवलइ दारा दसजोयणवित्थरा य ससिधवला ॥२१३॥
वज्जोयणेक्ककोसा पणालियाए हुवेदि विक्खंभा ।
आयामा बेकोसा [2]तेत्तियमेत्तं च बहलत्तं ॥२१४॥

६ । को १ । को २ । को २ ।

सिंगमुहकरणजिब्भालोयणभूदाओण्हिगासरिसो ।
वसहो त्ति तेण भण्णइ रयणामरजीहिया तत्थ ॥२१५॥
पणुवीस जोयणाणि हिमवंते तत्थ अंतरेदूणा ।
दसजोयणवित्थारे गंगाकूडम्मि णिवसदे गंगा ॥२१६॥[3]
पणुवीसजोयणाइं दारापमुहंमि होदि विक्खंभा ।
सव्वाणिकत्ताण य एवं णियमा परूवेदि ॥२१७॥

२५ ।

पाठान्तरम्—
जोयणसट्ठीरुंदं समवट्टं अत्थि तत्थ वरकुंडं ।
दसजोयणउच्छेदं मणिमयसोवाणसोहिल्लं ॥२१८॥

६० । १० ।

बासट्ठिजोयणाइं दो कोसा होदि कुंडवित्थारो ।
संगोयणिकत्तारो एवं णियमा णिरूवेदि ॥२१९॥

६२ । को २ ।

पाठान्तरम्—
चउतोरणवेदिजुदो सो कुंडो तत्थ होदि बहुमज्झे ।
दीवा रयणविचित्ता चउतोरणवेदिया हि कयसोहा ॥२२०॥

1 D स्साधिदूण ; 2 AB तत्तिय ; 3 AB repeat this verse.

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

दसजोयणउच्छेहो सो जलमज्झम्मि अट्ठवित्थारा ।
जलउवरिं दो कोसो तंमज्झे होदि वज्जमयसेलो ॥२२१॥

१० । कोस २ ।

मूले मज्झे उवरिं चउदुगएक्का कमेण वित्थिण्णा ।
दसजोयणउच्छेहो चउतोरणवेदियाहि कयसोहा ॥२२२॥
तप्पव्वदस्स उवरिं बहुमज्झे होदि दिव्वपासादो ।
वररयणकंचणमओ गंगाकूडं ति णामेण ॥२२३॥
चउतोरणेहिं जुत्तो वरवेदीपरिमदो[1] विचित्तयरो ।
बहुविहजत्तसहस्सो सो पासादो णिरूवमाणो ॥२२४॥
मूले मज्झे उवरिं तिदुमेक्कसहस्सदंडवित्थारा ।
दोण्णिसहस्सोत्तुंगो सो दीसदि कूडसंकासो ॥२२५॥

३००० । २००० । १००० । २००० ।

तस्सब्भंतररुंदो पण्णासब्भहियसत्तसयदंडा ।
चालीसचावबासं असीदिउदयं च तद्दारं ॥२२६॥

७५० । ४० । ८० ।

मणितोरणरमणिज्जं वरवज्जकवाडजुगलसोहिल्लं ।
णाणाविहरयणपहाणिच्चुज्जोयं विराजदे दारं ॥२२७॥
वरवेदीपरिखित्ते चउगोउरमंदिरम्मि पासादे ।
रम्मुज्जाणे तस्सि गंगादेवी सयं वसइ ॥२२८॥
भवणोवरि[2] कुंडम्मि य जिणिंदपडिमादि सासदरदीउ ।
चेट्ठंति किरणमंडलउज्जोइदसयलदिसओ ॥२२९॥
आदिजिणप्पडिमाओ तोओजदमउडपासेहरिल्लाओ ।
पडिमोवरिमि गंगा अभिसित्तू[3] मण्णसा पडदि ॥२३०॥
पुव्विदपंकजपीडाकमलोदरसरिसवण्णवरदेहा ।
पढमजिणप्पडिमाओ भरंति जे ताण देंति णिव्वाणं ॥२३१॥
कुंडस्स दक्खिणेणं तोरणदारेण णिग्गदा गंगा ।
भूमिविभागे वक्को होदूण गदा य रजदगिरिं ॥२३२॥
[4]रम्मायाए गंगा संकुलिदूणं पि दूरदो एसा ।
विजयड्ढगिरिगुहाए परिसदि भेदाभिलेभुंजंगिद्धं (?) ॥२३३॥

---

1 D परमदो ; 2 AB भवणोवर ; 3 ABS अभिसत्तू ; 4 D रम्माआए ।

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

THE JAINA ANTIQUARY

Vol. VI JUNE, 1940. No. I.

Edited by
Prof. HIRALAL JAIN, M.A., LL.B.
Prof. A. N. UPADHYE, M.A., D. Litt.
Babu KAMTA PRASAD JAIN, M.R.A.S.
Pt. K. BHUJABALI SHASTRI, VIDYABHUSHANA

Published at
THE CENTRAL JAINA ORIENTAL LIBRARY,
ARRAH, BIHAR, INDIA.

Annual Subscription :
INLAND RS. 4. FOREIGN RS. 4-8. SINGLE COPY RS. 1-4

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

CONTENTS.

	PAGES.
JAINA LITERATURE IN TAMIL. By Prof A Chakravarti, M.A. I.E.S.	1—8
ASOKA AND JAINISM. By Kamta Prasad Jain, M.R.A S. ...	9—16
PRESIDENTIAL ADDRESS. By Prof. J. C. Jaina, M.A. ...	17—24
BAHUBALI GOMMATESVARA. By K. P. Mitra, M.A, B.L. ...	25—34

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

Om.

THE JAINA ANTIQUARY.

"श्रीमत्परमगम्भीरस्याद्वादामोघलाञ्छनम् ।
जीयात् त्रैलोक्यनाथस्य शासनं जिनशासनम् ॥"

Vol. VI. No. I | ARRAH (INDIA) | June 1940.

JAINA LITERATURE IN TAMIL.

By Prof A. Chakravarti, M.A, I.E.S.

Continued from Vol. V. No. III, page 74.

The scene of the story is laid in Rājapura in Ouḍaya Deśa, in Bhārata Khaṇḍa. Māridatta is the name of the king. There is a Kālī temple in the city dedicated to Caṇḍa Māri Dēvī. It was the time of a great festival for this Caṇḍa Māri Dēvī. For the purpose of sacrificing, there were gathered in the temple precincts, pairs of birds and animals, male and female, such as fowls, peacocks, birds, goats, buffaloes and so on. These were brought by the people of the town as their offerings to the Devī. The king Māridatta, to be consistent with the status and position of Rāja, wanted to offer as sacrifice not merely the ordinary beasts or birds but a pair of human beings as well. So he instructed his officer to fetch a pair of human beings, a male and a female, to be offered as sacrifice to the Kālī. The officer accordingly went about in search of human victims. Just about that time a Jaina Saṅgha consisting of 500 ascetics presided over by Sudattācārya came and settled at the park in the outskirts of the city. In this Saṅgha there were two youths Abhay aruci and Abhayamti, brother and sister. These two young apprentices, since they were not accustomed to rigorous discipline

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

characterstic of the grown up monks in the Saṅgha, were very much fatigued on account of the long travel and were permitted by the head of the Saṅgha to enter the town for obtaining the alms for themselves. The officer of the king, who went about in search of human victims, was very glad to capture these two beautiful youths and marched them to the Kālī temple and informed the king of his capture. The king Māridatta gladly went to the Kālī temple with the object of offering his sacrifice with these beautiful youths. The people assembled there asked these two beautiful youths to pray to Kālī that, as a result of this great sacrifice, blessings must be showered on the king and the land. The two ascetics smiled at this request; and they themselves blessed the king that he might be weaned from this cruel form of worship, so that he might have the pleasure of accepting the noble Ahiṁsā Dharma which would lead him to a safe spiritual haven. When they pronounced this with a smile on their beautiful faces, the king was nonplussed for he could not understand how two such young and beautiful persons, in the face of death, could have such peace of mind as to laugh at the whole game as if it were none of their own concern. Therefore the king wanted to know the reason why they laughed at such a grave moment and expressed a desire to know who they were, and why they came to the city, and so on. The sword drawn for sacrifice was sheathed again, and the king was in a mood to know the reason of the queer behaviour of the two youths. As desired by the king the brother Abhayaruci began to answer. "The reason why we laughed, without being in fright, was the result of knowledge that everything that happens to an individual is but the fruit of his previous Karma. Fear to escape the fruits of one's own Karma is but the result of ignorance. Hence we were not afraid of our own fate which is the consequence of our own previous action. We have to laugh simply because the whole scene here is steeped in so much ignorance. As a result of our own conduct that we sacrificed a fowl made of rice flour, we had to suffer and endure for seven births successively taking the form of lower animals and suffering all sorts of pain. Only in this period, we have the good fortune to regain our human form. We know very well that all

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

this suffering was the result of our silly desire to offer sacrifice to Kālī, though the actual victim of sacrifice was merely an imitation fowl made of flour. After realising this, when your people asked us to pray to Caṇḍa Māri Devi for the propsperity and welfare of of yourself and your kingdom as a result of sacrifice of several animals and birds together with human beings, we could not but laugh at the simplicity and ignorance of people here."

When the king heard this, he gave up the idea of sacrifice and wanted to know more about the life of the two victims who exhibited such magnificent peace of mind even in the very jaws of death. Thus ends the first section.

In the second section is narrated the story of these two youths and how they brought upon themselves all the troubles on account of sacrificing a mock fowl. The scene is laid in Ujjain, the capital of Avanti of Mālavadēśa. The ruler of the country was one Aśōka. His queen was Candramatī. Yaśōdhara was their son. It is this prince Yaśōdhara that is the hero of this story. This Yaśōdhara married a beautiful princess by the name of Amṛtamati. This beautiful queen gave birth to a son Yaśōmati. The old king Aśōka abdicated the kingdom in favour of his son Yaśōdhara and instructed him to observe the principles of righteous rule according to Rājanīti. He instructed his son how he should safeguard Dharma, Artha and Kāma, the three Puruṣārthas. He should maintain religion and religious worship at a high level of purity based upon Ahiṁsā doctrine. Having given all this advice and establishing his son as the king of the land, the old king adopted the life of an ascetic and spent his time in an Āśrama. While king Yaśōdhara and queen Amṛtamati were living happily, one early morning the queen heard the the sweet music of the elephant-keeper singing in Mala-pañcama-rāga. The queen was attracted by the music and sent her attendant Guṇavatī to procure the person who was responsible for such sweet music. This information created a surprise in that attendant who advised the queen to remember her status and prestige; but as she insisted on having the person with whom she fell in love, the attendant had to bring the keeper of the elephant

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

who was a detestable leper. Even in spite of this deformity, the foolish queen entered into an intimacy with that wretch. The king was at first ignorant of the whole affair. But soon the king came to know of this disgusting behaviour of the queen. Noticing the peculiar estrangement in her behaviour, he himself grew weary of worldly riches and was trying to discard the kingly pleasures and renounce the world. Just then he had an ominous dream in which the moon from the high skies was observed to fall down towards the earth losing all her light and glory. The king feared that this was symbolic of some calamity and wanted to know how to avoid the evil foretold in this dream. The queen-mother was consulted by the king who was advised to offer some animal sacrifice to Kāli for the purpose of warding off such a calamity. The king, because he was a faithful follower of Ahiṁsā Dharma, could not reconcile himself to animal sacrifice. Hence the king and his queen-mother both arrived at a compromise according to which the king had to offer a fowl made of rice-flour as a sacrifice to the Kāli. So the mock fowl was offered as a sacrifice to Kāli Thus troubles began. In the meanwhile, the queen knowing that her conduct was discovered by the king and the queen-mother, hated them both and finally succeeded in killing them by poisoning them Thus, after disposing off the king and his mother, this wicked queen Amṛtamati made her own son Yaśomati king of Āvantidēśa. After the death of Yaśodhara and his queen mother Candramati as a result of the sin of the sacrificing to Kāli, they were born as lower animals for seven births in succession.

The third section is the description of the various Janmas taken by king Yaśodhara and his mother as lower animals and birds, and the grief and suffering that they had to undergo.

In the fourth section the narrative of the new king Yaśomati is given and also the story of Abhayaruci and Abhayamati who were in their previous births Yaśodhara and his queen mother Candramati. Finally, when Māridatta learnt the whole story, he desired to know more about this noble Truth Ahiṁsā ; and he was taken to the Guru who was camping in the Udāyna in the outskirts

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

of the city where the king had the initiation into the noble faith of Ahiṁsā. Thereafter, he not only gave up the offering of animal sacrifice to Kāli himself, but also proclaimed to his people that such a sacrifice should not be offered any longer. Thus he elevated the religion and temple worship to a higher and nobler level all over his land. This is the story of the Yaśodhara Kāvya in Tamil about whose author we know nothing The story is found even in Sanskrit literature. There is a Sanskrit Yaśodhara Kāvya dealing with the same story. But it is not clearly known which is earlier, the Tamil or the Sanskrit one.

This Tamil Yaśōdhara Kāvya was first published by late T. Venkaṭarāma Iyengar an esteemed friend of the present writer. Unfortunately the edition is out of print and hence not available to readers at present.

(2) Cūḷāmaṇi.—It is composed by the Jaina author poet Tolāmoḻittēvar. He was evidently under the patronage of the chief Vijaya of Kārvetnagar. The editor of this work, Damodaram Piḷḷai, is of opinion that it must be earlier than some of the Major Kāvyas. His conclusion is based upon the fact that several stanzas from Cūḷāmaṇi are quoted by Amṛtasāgara, the author of Yāpparuṅgalakārikai. Cūḷamaṇi is based upon a Purānic story contained in Mahāpurāṇa by Jinasena. The hero of the story is one Tiviṭṭan one of the nine Vāsudevas according to the Jaina tradition of whom, Kṛṣṇa of Bhārata fame, is one. Cūḷāmaṇi resembles Cintāmaṇi in poetic excellence It contains 12 sargas and 2131 stanzas on the whole. The story runs as follows. Prajāpati, King of Suramaidēśa, whose capital was Pōtanapura had two principal queens Mṛgapati and Jayavati. Tiviṭṭan, the hero, was the son of Mahādevi Mṛgapati, Vijaya the son of Jayavati and this was the elder of the two. Vijaya and Tiviṭṭan were exactly corresponding to Balarāma and Kriṣṇa, the former fair, and the latter dark in complexion. A soothsayer told the king Prajāpati that his son Tiviṭṭan would marry a Vidyādhara princess very shortly The Vidyādhara king of Rādānūpura had a daughter by name Svayamprabhā who was very beautiful. This Vidyādhara king also had a prediction made by a

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

soothsayer that his daughter Svayamprabhā would marry a Kṣatriya prince of Pōtanapura. The Vidyādhara Monarch sent one of his ministers with a letter to king Prajāpati offering his daughter in marriage to Tiviṭṭan. King Prajāpati of Potanapura, though surprised at first at this offer from the Vidyādhara king, consented to the marriage. In the meanwhile, the matter was known to the Vidyādhara emperor Aśvagrīva to whom both king Prajāpati and the father of Svayamprabhā were subordinates Aśvagrīva, the Vidyādhara emperor, demanded from the father of Tiviṭṭan the usual tribute. King Prajāpati fearing the wrath of the Vidyādhara emperor ordered the tribute to be paid immediately. But his son Tiviṭṭan would not permit this He denied allegiance to the Vidyādhara emperor and sent the messenger back saying " No tribute will be paid hereafter." One of the Vidyādhara ministers attached to Aśvagrīva's court, wanted to kill this foolhardy Kṣatriya youth Tiviṭṭan by a stratagem He assumed the form of a lion and destroyed the cattle of the land Suramai belonging to the king Prajāpati The sons of Prajāpati, Tiviṭṭan and Vijaya, set out to slay the lion. The lion which is the assumed form of the Vidyādhara minister cleverly decoyed Tiviṭṭan into a cave. Tiviṭṭan pursued the lion into the cave. There was a real lion which devoured the Māyā lion and wanted to have Tiviṭṭan also Tiviṭṭan was not to be frightened by this The Vidyādhara lion having disappeared into the mouth of the real lion of the cave, he caught hold of the head of the real lion and killed it easily. This killing of the lion was a part of the prediction given by the sooth-sayer to the king of Rādānūpura, the father of Svayamprabhā, who was to be given in marriage to Tiviṭṭan. Therefore the king of Rādānūpura set out with his daughter Svayamprabhā for Pōdanapura where the Vidyādhara princess was given in marriage to the gallant Tiviṭṭan. Vidyādhara emperor Aśvagrīva, boiling with wrath, because of the treatment meted out to his messenger by his subject's son Tiviṭṭan, had now his anger aggravated because of the marriage with a Vidyādhara princess. He could not brook the idea of an ordinary Kṣatriya prince, and that too the son of his own subordinate, marrying a Vidyādhara princess of his own noble race. He marched with his

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

mighty force against Tiviṭṭan. A war ensued. Tiviṭṭan being a Vāsudeva, was in possession of divine magic powers, and with his Cakra made a clean sweep of the Vidyādhara army and finally slew the Vidyādhara emperor Aśvagrīva himself. The result of this victory made Tiviṭṭan's father-in-law suzerain lord for the whole of Vidyādhara land. Tiviṭṭan himself inherited his father's domain and lived happily with his Vidyādhara bride Svayamprabhā together with his several thousand other spouses. He had a son by his Vidyādhara bride Svayamprabhā named Amṛtasena. He gave his sister in marriage to his brother-in-law Arkakīrti and by his sister a daughter was born called Sudārai and also a son. Tiviṭṭan had another daughter by name Jōtimālai for whose marriage he proclaimed a Svayaṁvara. This daughter chose as her husband her maternal uncle, Arkakīrti, whereas the Vidyādhara princess chose his own son Amṛtasena. Thus by these two marriages the alliance between Pōdanapura dynasty and the Vidyādhara dynasty was further strengthened. Thus, when the two countries were living in happiness and the people were enjoying prosperity, the old king Prajāpati renounced the kingdom in favour of his son and passed the remainder of his life in Yōga and meditation. But as a result of this Jinadīkṣā and spiritual penance king Prajāpati escaped from Saṁsāra and attained Mukti. Thus ends the story of Cuḷāmaṇi, a very important work included in the category of the five minor kāvyas.

(3) Neelakēśi.—This is also one of the five minor kāvyas which is evidently by a Jaina philosopher poet about whom we know nothing. It is a controversial work dealing with the system of Indian philosophy and it has an excellent commentary called Samaya Divākara by one Vāmana Muni. This Vāmana Muni is the same as the author of another classic called Mērumandirapurāṇam. Neelakēśi appears to be a refutation of the Buddhistic work called Kuṇḍalakēśi which is unfortunately lost now. This Kuṇḍalakēśi was included under the category of the five Mahākāvyas. Though the Tamil classic of this name is lost to the world, the story of Kuṇḍalakēśi as found in the Buddhistic work is given below for the simple reason that the related story of Neelakēśi is modelled after Kuṇḍalakēśi

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

and is intended to be a refutation of Kuṇḍalakēśi's philosophy. The story of Kuṇḍalakēśi is as follows taken from "The Buddhist Legends" (H. O. S.)

A rich merchant of Rājagṛha, it seems, had an only daughter who was about sixteen years of age, and she was exceedingly beautiful and fair to see. When women reach this age, they burn and long for men. Her mother and father lodged her on the topmost floor of a seven-storied palace in an apartment of royal splendour, and gave her only a single slave-woman to wait upon her.

Now one day a young man of station was caught in the act of robbery. They bound his hands behind his back and led him to the place of execution, scourging him with lashes at every cross-road. The merchant's daughter heard the shouts of the crowd, said to herself, "What is that?", looked down from the top of the palace, and saw him.

Straightaway she fell in love with him. So great, in fact, was her longing for him that she took to her bed and refused to eat. Her mother asked her, 'What does this mean, my dear daughter.' 'If I can have that young man who was caught in the act of committing robbery and who was led through the streets, life will be worth living; otherwise I shall die here and now.' 'Do not act in this manner, my dear daughter; you shall have someone else for your husband, someone who is our equal in birth and family and wealth." 'I will have no one else; if I cannot have this man, I shall die."

The mother, unable to pacify her daughter, told the father, but the father likewise was unable to pacify his daughter. 'What is to be done?', thought he. He sent a thousand pieces of money to the king's officer who had captured the robber and who was accompanying him to the place of execution, saying, 'Take the money and send the robber to me.' 'Very well' said the king's officer. He took the money and released the robber, had another man put to death, and sent word to the king, 'The robber has been executed, Your Majesty.'

Contd.

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

Asoka and Jainism.

BY

Kamta Prasad Jain, M. R. A. S.

Continued from Vol. V. No. III, page 88.

Thus we may conclude that the monuments of Asoka and their symbols betray the influence of Jainism on Asoka; and as he closely followed and copied Jaina ideas in his buildings, it may be regarded that he actually had the knowledge of Jainism and most probably professed it.

Technical terms of Jainism in Asokan Edicts.

It seems that Asoka, also, used the language of the Jainas in composing his edicts; as is evident from the opinions of various scholars.[78] Yet not only the language but many a technical term of Jainism with their very sense and meaning has been also used by him. We may point some of them herein below:—

1. *Śrāvaka* (श्रावक) or *Upāsaka* (उपासक) words are used in the 1st minor Rock Edit of Rûpnāth and also in those of Vairāṭ and Sahasrāma. In Jainism these words are reserved to indicate a layman ;[79]

2. *Prāṇa* (प्राण) Aśoka used the term (प्राण) in his Brahmagir (2nd minor) edict (हेमेव गुरुत्वं प्राणेषु द्रोग्धव्यम्) while he exhorted the people to honour the *prāṇas* (of the living beings). Jainism characterises and classifies the mundane souls according to the *prānas* they possess and the injury *himsā* (हिंसा) of living beings

78. E. Senart, Les Inscriptions de Piyadasi, pp. 505—513 & A. Weber, Uberein Fragment der Bhagwati Sect. I &c.

79. In the following verse the word श्रावक is used to describe the Dharma of a layman :—

'एवं सावयधम्मं संजमचरणं उदेसियं सयलं
सुद्धं संजमचरणं जइधम्मं णिक्कलं वोच्छे ।'—अष्टपाहुड P. 99.

Likewise the word " उपासक " is used for a layman in the उपासकदशासूत्र and other texts.

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

also depends on hurting these *prānas.*[80] Which are ten in all as are named in the following verse :—

'पंचवि इन्दिय पाणा मणवचिकाया य तिण्णि बल पाणा ।
आणप्पाणप्पाणो आउगपाणेण होंति दस पाणा ॥५७॥'

Such use of the word *prāṇa* is not perhaps traceable elsewhere.

3. *Jîva* (जीव)—We find this word in the first Girnar Rock Edict and it is the very first *Tattva* of Jainism,[81] Jain king Khārvela while observing penances on the Kumarihill discerned the difference of Jîva and Ajîva.[82]

4. Śramaṇa श्रमण—The word Śramaṇa is traceable in the third and many other Rock Edicts. Jainism and Jaina ascetics are styled as Śramaṇa-Dharma and Śramaṇa.[83]

5. *Pāṇā-Anālaṃbha* (पाणाअनालंभ) term is found in the third Rock Edict. In Jaina texts it can be traced profusely.[84]

6. *Kalpa* (कल्प) term is used in the fifth Rock Edict to denote a certain period. While calculating time Jainās also use the term Kalpakāla.[85]

---

80. Outlines of Jainism, p. 82.
"पाणेहिं चदुहिं जीवदि जीवस्सदि जो हु जीविदो पुव्वं ।
सो जीवो पाणा पुण बलमिंदियमाऊ उस्सासो ॥३०॥" —पंचास्तिकाय

81. Tattwarthadhigama-Sutra (S. B. J.) p. 6.

82. J.B.R.O.S., Vol. XIII pp. 234—235.

83. ,, 'He who teaches the great vows (of monks) and the five small vows (of the laity) the five *āśravas* and the stoppage of *āśravas* and control, who avoids Karman in this blessed life of śramaṇas him I call a śramaṇa."
Sutrā Kratanga, 2.6.6.

'Kalpa-Sutra' p. 83.
'समणोत्ति संजदोत्ति य रिसि मुणि साधुत्ति वीदरागोत्ति ।
णामाणि सुविहि दाणं अणगार भदंत दंतोत्ति ॥८८६॥' —मूलाचार ।
'समयाए समणो होइ' –
'से णं लेवे नामं गाहावई समणोवासए यावि होत्था ।' —सूयगडांग ५३४

84. In "Mûlāchāra," 41 it is found in an affirmative sense.
"सव्वं पाणारंभं पचक्खामि अलीयवयणं च ।
सव्वमदत्तादाणं मेहूण परिग्गहं चेव ॥४२॥"

85. Vrahad—Jaina—Śabdāravṇa, pt. II p. 415.

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

7. *Ekadeśa* एकदेश—Aśoka mentions this term in his 7th Rock Edict to denote the partiality of Dharma. In a similar sense and meaning this term is used in Jainism.[86]

8. *Sambodhi* (संबोधि)—This Term is used in the 8th Rock Edict; which is also traceable in Jainism.[87]

9. *Vachnagupti* (वचनगुप्ति) : Asoka used the term बचिगुत्ति in the 12th Rock Edict, while exhorting the people to honour other sects and do not belittle them without cause.[88] In Jainism only we find three kinds of *guptis* (1) *Managupti* (2) Vachanagupti (3) and Kāyagupti and every Jain Śramaṇa is required to observe them fully well.[89] Aśoka is anxious of unity among various sects and so he advises the people to regulate their speech and if they had an occasion to criticise the other sect they should do so with great care. Indeed Asoka's this injunction is quite in agreement with the Jain teaching.[90]

---

86. 'निरतः कात्स्न्र्यनिवृत्तो भवति यतिः समयसारभूतोऽयं ।
यात्येकदेशविरतिनिरतस्तस्यामुपासको भवति ॥४१॥' —पुरुषार्थसिद्ध्युपाय

87. सेयं भवभय महणी बोधी गुणवित्थडामगे लद्धा ।'—मूलाचार ।
'पयलिय माणकसाओ, पयलियमिच्छत्त मोहसमचित्तो ।
पावइ तिहुवणसारं बोहो, जिणसासणे जीवो ॥७८॥'—मूलाचार ।

88. Mookerjee, Asoka p. 158 ff.

89. Outlines of Jainism, p. 97—Sarvartha-Siddhi—Tîka of Tattvartha-dhigama—Sutra, Ch IX, sl. 4..

90. Cf. " Sramanas and Brahamanas blame one another when they teach (their doctrines). But we (Nirgranthas) blame only (the wrong) doctrines and not at all (those who entertain them)."—Sûtra—Kratâng, 2-6 12 (S.B.E. XLV. 414).

In the Jaina Puraṇas we meet with such instances where Jaina śramaṇas undergo prāyaśchitta प्रायश्चित्त for not properly observing the Vachanagupti वचनगुप्ति and offending other sects; *e g*., Muni Viṣṇu Kumāra-Carita, in which a Śramaṇa Śrutakîrti is made to undergo prāyaśchitta प्रायश्चित्त for using harsh language against a Brahmaṇa antagonist.

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

10. *Vedanîya* (वेदनीय,—This term is used in the 13th Rock Edict in the meaning of pain. In Jainism, too, it is used in this very sense and is one of the eight Karmas.[91]

11. *Dhamma-Mangala*—(धम्म-मंगल). It is referred to in the 9th Rock Edict and in Jainism, too, it has the same significance and use.[92]

12. *Dāna and Pûjā* (दान व पूजा)—Asoka used this phrase in his 12th Rock Edict (G), while he expressed his catholicity in honouring all the sects. The Dharma of a lay man in Jainism is described in this very phrase.[93]

13. *Dharma-Vijay* (धर्म-विजय)—Asoka mentions this word in his 13th Rock Edict. Jaina kings like Samprati, Śāliśuka and Khāravela too made such Dharmavijayas in their own capacity and fashion respectively.[94]

14. *Chaturmāsi-Posaha* (चातुर्मासि पोसह) in R. E. 2. It seems that 8th (अष्टमी) and 14th (चतुर्दशी) of each fortnight in every month are more sacred to Jainas than other sects. Among the Jainas the last eight days of all the three seasons, styled as ashṭānhikā (अष्टाह्निका) are counted very sacred and are called as कार्तिक चातुर्मासा, फाल्गुण चौमासा and अषाढ़ चौमासा[95]. During these days all kind of *Hinsā* is prohibited. It seems that Asoka refers to this very पोसह in his above phrase.

---

91. Tattwārtha-Sûtra (SBJ), p. 160.

92. "चत्तारि मंगलं, अरहंत मंगलं, सिद्ध मंगलं, साहू मंगलं, केवलिपण्णत्तो धम्मोमंगलं।"
—नित्यपूजा

"धम्मो मंगल मुक्किट्ठं, अहिंसा संजमो तवो।
देवा वि तं नमंसंति, जस्स धम्मे सया मणे।" दश०, अ० १ गो० १

93. "दाणं पूजा मुक्खं सावयधम्मो, ण सावगो तेण विणा।"
—कुंदकुंदाचार्यः।

94. JBORS., Vol. III p. 453 ff. and Vol. XVI. p. 24 ff.

95. The "Jaina" Silver Jubilee Number, Bhavanagar, p. 78.

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

15. *Pākhanḍa* (पाखंड) is used by Asoka in R. E. 13. In Jainism this word is found,[96] while it is absent in Buddhism.[97]

16. *Samacariyaṃ* (समचरियं) is also to be found in Rock Edict 13 as in Jainism[98].

17. *Kalyāna* (कल्याण) This word is also traceable in the 13th R. E. and it finds place in Jaina texts[99].

18. *Apāsinave* (अपासिनवे) term is used in the 2nd pillar edict and it is also found in Jaina texts.[100]

19. *Dvipada-catuṣpadeṣu-pakṣivāricareṣu*—(द्विपदचतुष्पदेषु पक्षिवारिचरेषु)—This phrase is also found in the 2nd P. E. and by it are denoted those animals which received protection from Asoka. In Jainism too, the animals are classified in three kinds, which are similar to that mentioned in the phrase.[101]

---

96. *Ibid*, p. 77.

97. " It (पाखंड) is not found in Buddhism."—Wilson (JRAS., XII. p. 236).

98. 'जं छेयं तंसमायरे ।'—'समो अ सव्वभूएसु; तसेसु थावरेसु य ।'—समवाए समणो-होइ ।'

Asoka used the word Samāvāya 'समावाय' in the 12th R. E.

99 'कल्लाण पावगाओ पावगाओ पोओ विचिणोदि जिणमदुमुविच्च ।
विचिणादि वा अपाये जीवाण सुहे य असुहेय ॥४००॥ 'मूलाचार'
'सोच्चा जाणई कल्लाणं, सोच्चा जाणइ पावगं ।
उभयं पि जाणइ सोच्चा, जं छेयं तं समायरे ।।' —दशवैकालिक अ० ४ गा० १०

100. In Tattvārthadhigam—Sûtra (S. B. J, series, p. 124) *Āsrava* is described twofold—good and bad. Apāsrava is bad Āsrava.

101. Prasna-Vyākaṛṇa Sûtra (Hyderabad ed: p. 7.)

"भगवंचणं ·····धम्ममाइक्खइ····· तेसिं सव्वेसिं····
दुप्पय-चउप्पय-मिय-पसु-पक्खि सरीसिवाणं ·····।"

—समवायाङ्ग,

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

20. *Jîva-nikāya* (जीवनिकाय)—For it see 5th P. E. and this term is traceable in this very form in the Jaina texts.[102]

21. *Proṣadha* (प्रोषध)—For this term also the 5th P. E. may be referred to. In Jainism this term has a great importance, since one of the vows of layman is also styled as Prōshadhōpaivsā (प्रोषधोपवास[103].)

22. *Dharma-vriddhi* (धर्मवृद्धि) term is used in 8th P. E. Jaina ascetics use this term at large even to this day and the Jainas are always alert for the sacred cause of dharma-vridhi (धर्मवृद्धि.) We find Kṣapaṇaka (Jaina monk Jîvasiddhi using this term in the "Mudrā-Rākṣasa-Nāṭaka.)"[104]

23. *Pchûpagamana* (पचूपगमन) is used in 6th P. E. It is synonymous to Jaina Pratikramāṇa (प्रतिक्रमण) which has a special place in Jainism[105]

24. *Devānāmpriya* (देवानां प्रियः) and *Priyadarśana* (प्रियदर्शन) Both the terms are used in the 7th P. E. and also in others. The Jaina narrative accounts abound with these terms.[106]

25. *Āsinava* (आसिनव)—It is mentioned with the word *Pāpa* in the III P. E. This distinction of *āsrava* and *Pāpa* is clear in Jainism and the five *āsavas* named by Asoka also find place

102. 'ईर्यापथे प्रचलताद्य मया प्रमादादेकेंद्रियप्रमुखजीवनिकायबाधा, इत्यादि।'
—प्रतिक्रमणपाठ।

103. "चतुराहारविसर्ज्जनमुपवासः प्रोषधः सकृदभुक्तिः।
स प्रोषधोपवासः यदुपोष्यारम्भमाचरति ॥१९॥४॥"
—रत्नकरण्डकम्।

See also Kalpasûtra (S.B.E.) pt. I and Uvāsagadasāo

104. Hindu Dramatic Works, p. 89 & Pravachanasāra (Bombay 1935), Intro

105. Mulāchāra, p. 11. ;
'Pratikramaṇa, self-analysis and repentance for faults.'—Tattvārtha-dhigama-Sûtra, p. 184.

106. Kalpasûtra p. 54 & 126-30.—"This same term of Devānāmaprya or beloved of the Gods should prove to have been an established and conventional title among the Jains" JRAS-IX-206.

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

in the *āsava* of Jainas. In Buddhism it is not traceable in this sense.[107]

26. *Bhûta* and *Prāṇa* (भूतप्राण) 13th R. E. " Asoka does contrast," says Dr. Bhandarkara " from *prāṇa* when he enumerates his ethical practices, as in *anārambho paṇānaṃ, avihisa bhūtānam.* Buddhists no where distinguishes between *prāṇa* and *bhūta*, whereas Jaina scriptures does not only distinguish them one from the other but also both from Jîva and Sattā. [108] Thus it is clear that Asoka used the terms *bhūta* and *prāna* in the sense of Jainas. We come across the phrase *pāṇa-bhūya-jiva-satta* in Jaina Scriptures and though Asoka did not use them together, [109] but he had mentioned all the four in his edicts.[110]

The above-mentioned technical terms of Jainism used by Aśoka also signify his belief in that religion.

Teachings of Asoka.

Asoka was convinced like a Jaina that " the best work is instruction in Dharma," (R. E. 4. G.) and he considered it to be a duty of a king (R. E. 6, I). Accordingly he proclaimed that " no other duty is more important than promoting the welfare of all men," (R. E. 6) and he set himself heart and soul to fulfill his this duty. Concerning this he speaks that " I shall issue proclaimations of Dharma and shall order instruction in Dharma to be given Hearing this men will conform to it, will be elevated and will be made to progress considerably by the promotion of Dharma " (P. E. 7 Asoka's this decesion too is in conformity with the Jaina idea on the point, for, it is said in the Jaina scriptures that it is very difficult

107. Bhandarakar, Asoka pp. 126—127 and Mookerjee Asoka, p. 71.

108. Bhandarakar, *loc Cited* p. 130.

109. "पाणा-भूया-जीवा-सत्ता ।"

—Ācārānga Sutta (S. B. E.) XXII p. 26 ;

"पाण-भूय-जीव-सत्ता ।"

—प्रतिक्रमणपाठ ।

110. In Jain scriptures they are used separately.

"जो समो सव्वभूदेसु तसे थावरेसु य ।
जस्स रागो य दोसो य वियऊंण जणेंतिदू ॥५२६॥

—मूलाचार पृ० २०४।

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

for men to hear Dharma and perchance they hear it, they come to know the Right Path of Soul's elevation and progress in Dharma.[111] Asoka is not anxious only for the worldly welfare of his subjects, he is rather more anxious for the good of their souls in the next world; which also, is but a true spirit of Jainism. For the benefit of soul of an individual in the next world Asoka issued the following injunctions and in these also we witness Jaina influence, as we shall see below:

1. *Animals must not be killed.*—By this prohibition Asoka preaches the most important teaching of Jainism in the shape of Ahimsa and regards it as one of his main precepts similarly to Jainism. (P. E. 7). Asoka stopped killing of animals for sacrifices and even for food Asoka's this special regard for the sanctity of and non-injury to all living beings is akin to Jain spirit of Ahimsā [112]

2. *Superstitious ceremonies condemned*—(R.E. 9B) Asoka's condemnation of superstitious ceremonies on the occasions of marriages and child-birth etc., as offensive and useless and recommendation in their place of the practice of Dharma is just the same what Jainism preaches. *Mithyātva* (superstition) is wholly condemned in Jainism[113] and *Dharma* is called there also as best *Mangalra.*[114]

To be continued.

111. माणुस्सं विग्गहं लध्धु सुई धमस्स दुल्लहां।
जं सोच्चा पडिवज्जंति तवं खंतिम संसयं ॥८॥३॥ 'उत्तराध्ययन सूत्र'

112. It is only Jainism that wholly condemns hurting of animals; while killing of animals for food by laymen is justified in Buddhism.

113. Ratnakarandakam, 1, 22—23, etc.
"आपगासागरस्नानमुच्चयः सिकताश्मनाम्।
गिरिपातोऽग्निपातश्च लोकमूढं निगद्यते ॥१॥२२॥
वरोपलिप्सयाशावान् रागद्वेषमलीमसाः।
देवता यदुपासीत देवतामूढमूच्यते ॥१॥२३॥ इत्यादि"—रत्नकरंडकम्।

114. aśavai kālikasūtra, 1, 1; Nityamahayajna kalpa.
"धम्मो मंगज़ मुक्किट्ठं, अहिंसा संयमो तवो।
देवा वि तं नमं स्संति जस्स धम्मे सया मणे॥"—दशवैकालिक सूत्र अ०१गा०१
"चत्तारि मंगलं—अरहंत मंगलं, सिद्ध मंगलं, साहू मंगलं, केवलिपण्णत्तो धम्मो मंगलं।"
—नित्यमहयज्ञकल्प,

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

PRESIDENTIAL ADDRESS.*

BY

Prof. J. C. Jaina, M A.

In this highly intellectual world of to-day, very often the validity of religion is questioned. The younger generation is less interested and less inclined towards religion. People say, it is for the sake of religious fanciful ideas that the Catholics and Protestants fought, Orthodox Hindus maltreated Harijans and prohibited them from entering the temple of their God, and in India even now there are communal riots and bloodshed among the Hindus and the Muslims every year. They abuse religion by saying that it is like opium, and it should never be prescribed for the welfare of the masses.

Really outwardly religion may seem as the main root of all disturbances, but it should never be forgotton that the defect lies in the misinterpretation of religious doctrines and not in the religion itself. For instance, science is being misapplied for the destruction of humanity, but we cannot fairly abuse science or scientific knowledge.

Religion is defined by Yogindu, a Jain thinker, thus :—

धम्मु ण पढियइँ होइ धम्मु ण पोत्था पिच्छियइँ ।
धम्मु ण मढियपएसि धम्मु ण मत्थालुंचियइँ ॥
राय रोस बे परिहरिवि जो अप्पाणि वसेइ ।
सो धम्मो वि जिण-उत्तियउ जा पंचम-गइ णेई ॥

i.e., reading is not religion, books and the broom of peacockfeathers do not constitute religion, to live in a monastery is not religion and pulling out of hair is not religion, but by giving up pleasure and displeasure to live in one's own self is called Religion.

* It was delivered at the Jainism Section of the First Convention of Religions, held under the auspices of the Indian Research Institute, Calcutta 1937.

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

So religion is not any caste, creed or colour, nor is it any superstition, custom or formalism, but it is an innate experience of Reality, independent of all historical religions, which distinguishes man from the animal. In the words of Prof. William James, "religion is the feelings, acts and experiences of individual man in their solitude, so far as they apprehend themselves to stand in relation to whatever they may consider divine." In our actual life we feel that we are not free to act, the mighty forces of nature are dashing us down, the cruel death snatches away our dearest kith and kin in the twinkling of an eye and we are left quite desolate. Religion tries to explain such riddles and it makes an attempt to unveil ourselves. Different thinkers of the world at all times, have tried to conceive the inconceivable and to utter the unutterable under different circumstances and different environments, and hence arises the diversity of religion बहूनि मम नामानि कीर्तितानि महर्षिभिः. Every system of religious thought makes an effort to find out the ways and means to remove suffering and to realise the self in its own way, under different names and under various guises. Just as every individual has his own contribution to the development of society, just as each nation has its own specific civilisation and culture, so each religion has its own share in apprehending the mystery of the Universe. As for instance, if Vedānta takes a monistic or idealistic view of life, Jainism and Sāmkhya philosophers take pluralistic or realistic view of it. Again, if to criticise the materialistic theory, the Upanishadic thinkers propounded the docrine of eternity of soul; Buddha, realising that it was being misinterpreted and misunderstood in the sense of self-individuality (अहंकार) which he considered the main root cause of suffering, established his theory of "no soul" (अनात्मवाद). Undoubtedly Buddha never meant thereby self-denial. The same thing can be said with regard to other religions. Thus different religious views contain different aspects of truth. The final goal of all religions is one, *i.e.*, to know the Infinite—to achieve the greatest good for the greatest number. The difference we find in various religions is not in their essence—not in their fundamentals, but it is due to their social, political and historical conditions.

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

The Jain religion has its own contribution to add to the social and cultural life of India. Before Mahāvīra, the twenty-fourth Tīrthaṅkara of the Jains, was born, there was no organised religion in the country, different teachers preached different tenets, people used to spend much of their intellectual energy on ceremonies and sacrifices, and the rules of caste were observed very strictly. Under these and many other difficult circumstances, Mahāvīra and Buddha made revolutionary changes in the social and religious life of India. Mahāvīra refused to preach his tenets in Sanskrit, which was considered as the language of the learned, and which could be interpreted in various ways, but he preferred to speak to the masses in their own vernacular, *i.e.*, Ardhamāgdhī. Mahāvīra made no distinction of any caste or creed, and he treated all men and women equal. He said because a man is low born, we have no reason to deny him spiritual knowledge. Every soul is in possession of infinite capacity and every man and woman, leading a holy life, can attain spiritual perfection. Not only this, but it is interesting to note, that in his assembly hall (समवसरण) a compartment was allotted even to the animals. Thus Mahāvīra brushed aside the distinction of high and low, rich and poor, and superior and inferior, very boldly, and declared in plain words :—

कम्मणा बंभणो होई कम्मणा होई खत्तिओ ।
कम्मणो वइसो होई सुद्दो हवइ कम्मणा ॥

That is to say, one's own caste should be determined by one's own action and not by birth. Mahāvīra showed high respect towards women and so included them in his "Saṅgha." He boldly asked why a woman should be backward. Why should she be deprived of any knowledge? Again, Mahāvīra did not believe in God as a creator of this universe and as a revealer of the Vedas. He said that such theories had been a great hindrance in checking the progress of the human intellect and had led us to act according to the sweet will of others. So he proclaimed that man's fate lies in his own hands, and to achieve the highest end of life is possible only through our own strenuous efforts. Thus Mahāvīra laid emphasis on the theory of Karman *i.e.*, as a man has sown so shall he reap,

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

we are the makers our own fate; as a man determines so he becomes.

The most important contribution of Jainism is their theory of "Anekāntavāda." It propounds many-sided view of a thing, and emphasises the relativity of truth. Amṛtchandra, a great Jain thinker, has defined Anekāntavāda thus:—

तत्र यदेव तत्तदेवातत्, यदेवैकं तदेवानेकं, यदेव सत्तदेवासत्, यदेव नित्यं तदेवानित्यं, इत्येकवस्तुवस्तुत्वनिष्पादकं परस्परविरुद्धशक्तिद्वयप्रकाशनं अनेकांतः।

In other words, the nature of things is extremely complex: we cannot affirm or deny anything absolutely. Every proposition is true only hypothetically. Every object is full of contradictions and oppositions. The plant germinates, blooms, withers and dies. Man is young, mature and old. So to understand a thing fully we should predicate the contradictions of existence and non-existence, one and many, permanence and change and so on. For instance, "let us take the antithesis of the swift and the slow. It would be nonsense to say that every movement is either swift or slow. It would be nearer the truth to say that every movement is both swift and slow; swift by comparison with what is slower than itself, slow by comparison with what is swifter than itself" 'Anekāntavāda' lays emphasis on the fact that "No judgment is true in itself and by itself. Every judgment as a piece of concrete thinking is informed, conditioned to some extent and constituted by the appercepient character of the mind." According to this doctrine, as there is truth in every idea, as there is reality in every existence, so every system of religion has some truth to offer. As long as we claim that we alone are in possession of truth, and others are groping in darkness, we can never achieve the truth, and consequently conflicts are sure to arise. A man who loves his own creed more than truth, ends by loving his own individuality better than his own sect. For instance, one may start by claiming that Hinduism is the only best religion, then he affirms Brahmanism is the only true creed, then he comes to Vaishṇavism, then to Vallabha sect, and finally he claims his own particular standpoint as the only true representation of truth. Jainism affirms that none can claim the ownership of the whole truth. As no system is wholly

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

untrue, similarly no system can be called absolutely true. Truth can be seen only by degrees and partially. So to acquire a sympathetic understanding of our own religion, we should show reverence and the spirit of toleration and trust towards all other creeds. "Anekāntavāda" in this sense, takes a most comprehensive and synthetic view of all systems of religious thought, and declares that the different views propounded by different religions are only to suit the varying conditions of life. Upadhyāya Yaśovijaya, a great scholar of Jainism, writes :—

यस्य सर्वत्र समता नयेषु तनयेष्विव ।
तस्यानेकांतवादस्य क्व न्यूनाधिकश्युषो ।
तेन स्याद्वादमालं व्य सर्व दर्शन तुल्यतां ॥
मो क्षोदेशाविशेषेण यः पश्यति स शास्तवित् ॥

i e. a true follower of Anekāntavāda has a sympathetic view towards all other religions, just as a mother has to her babies. Hence one who regards all systems of religious thought with the same eye, one who takes a synthetic view of all other creeds, is called a real knower of the scriptures. Siddhasena Divākara, the famous Jain logician, has emphasised the same view-point, when he affirms that all heretical doctrines combined (मिच्छादंसण समूह) constitute the sayings of lord Jina. Ānandaghana, a Jain mystic, represented the same spirit of compromise and good-will, when he described six systems of Indian Philosophy as the different parts of God Jaina (षडदरसण जिण अंग भणीजे). In the words of Swāmi Rāmkrishṇa, 'Anekāntavāda' declares "as the same sugar is made into various figures, so one sweet Mother Divine is worshipped in various climes and ages under various names and forms. Different creeds are but different paths to reach the Almighty. Really it was a very great truth when Jainism said that truth is one and there are various ways of approaching it.

Jainism is as old as human knowledge. Jainism has made substantial contribution in the sphere of Art and Science of India. Jains possess a very rich and vast literature of their own. Some of their important books were translated even into the Persian

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

language. They have got their Rāmāyaṇa and Mahābhārata which possess their own specialities. There were Jain kings and ministers in ancient days; and at the court of Akbar and other Kings, Jains occupied a very important position. Buddhism has totally disappeared from the soil of India, while the Jain religion even now occupies a very important place in Indian life; this fact show that Jains one day had possessed many-sided ability to adjust themselves according to the different circumstances. Nevertheless, Jainism has its own specific beauties, and its contributions to Indian civilisation and culture are immense.

Finally I come to the present needs of the world. The greatest achievement of our age is modern science. Modern science has given us things which we never conceived of in the past, it has brightened and cleansed the human existence in so many different ways, it has provided us with railways, aeroplanes, wireless, televisions, cinemas and what not. The world has become economically a single unit and we do not hear of famine any more. The tendency of science is to dispel superstitious fears and irrational beliefs from our mind. No doubt we are better off a hundred times now than we were before. But unfortunately this is not the whole tale. To quote Bertrand Russell " science has merely increased the power of man to satisfy his desires." On the one hand there is so much over-production of goods that the producers have to destroy them to prevent a fall in prices and on the other, millions of men and women go cold and hungry for want of clothing and food. Every nation wants to sell its productions to all and wants to buy from none. Economic struggle is going on everywhere among the nations. The strong and advanced nations carry on scientific exploitation of the weaker ones by fair or foul means. Love of wealth is increasing more and more, which is cutting short the roots of modern civilisation. Self-indulgence, universal greed and utter disregard of the interests and aspirations of others are becoming the main features of our time. Under these circumsances everybody's eyes are on the next world war, which is thought inevitable. Our science is trying its best to make it most successful, most horrible and thereby helping to bring about a collapse of the civilisation of the West.

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

Under such circumstances, " tell us what to do " is the common cry of the people. Shall we look towards religion for assistance and work out for an international peace through religion ? According to Prof. Radhakrishnan such an ideal is possible and it seems to him as the most hopeful political instrument for world peace. To put it in his own words " The political ideal for the world is not so much a single empire with a homogeneous civilisation and a single communal will, but a brotherhood of free nations differing profoundly in life and mind, habits and institution existing side by side in peace and order, harmony and co-operation, and each contributing to the world its own unique and specific best, which is irreducible to the terms of the others."

Now, in order that religion may be a living force again, we should pursue our religious studies in a scientific way. To achieve this end, our first duty would be to encourage the comparative study of all religions. We should view different religions from different angles of vision as the different branches of the self-same tree or the broken lights of a single truth. As various rivers crossing the different ways, at the end submerge into one and the same ocean, so all religious systems of the world are spun around the same central conception of the ultimate Reality ; only they develop new ideas and new forms to suit the new enviroments and new conditions of life. This will help us to realise the striking identity of the fundamental teaching of all religions. Our study of religions should also be supplemented by science on different problems of life. In other words, our religion should be a scientific religion, which can fulfil the needs of a modern man. Peace through religion can be brought about only through the spirit of tolerance and trust and by means of starting world-wide campaign to propagate the foundamental principles of religion, the principles of non-violence at its back. So long as we think that we alone have the monopoly of truth and we alone belong to the superior race, so long as the greed for empires and wealth is there and so long as the feelings of conceit and pride are predominant, unity and peace are impossible. Peace can be achieved only through contentment and fellow-feeling.

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

In spite of the fact that India is a slave-country and there are many religious and communal disturbances every now and then, it may be said that Indian culture is par excellance in many respects. It has always shown the spirit of adaptability and catholicity towards others. At various times a number of invaders descended upon India but Indians were never lacking in showing them the spirit of 'give and take.' Vāśishṭha and Viśvāmitra, although belonging to the different castes, lived in the same forest and contemplated the philosophical problems in the same assembly; many Jain and Buddhistic thinkers originally belonged to the caste of the Brāhmaṇas; and Brāhmaṇas respected Ṛshabha and Buddha as their incarnation of God, so Jaina and Buddhists worshipped Rama and Krishna as their heroes; Kabīra, Dādu, Nānak and many other Hindu saints had a great reverence for both Rāma and Rahīma, and for them there was no difference between Kaba and Kailāsa and Kurāṇa and Purāṇa; Raja Ram Mohan Rai tried to modernise the people of India into the western says and considered British Rule as due to a dispensation of Providence. These evidences are enough to show that Indian culture is a harmony of various cultures and creeds, where every historical group is unique and scientific, and has its own ultimate value. Even in our own times we do have numerous inter-caste marriages. Muslims enjoy the festivals of the Hindus and so Hindus of the Muslims; many Hindus are great scholar of Arabic and Persian, and similarly there are many Muslim scholars who are very efficient in Hindi and Sanskrit language. This shows really a very broad-minded spirit of Indian culture.

In one word, unity in diversity and diversity in unity had been the main theme of Indian culture. As a Jain and a fellow citizen of the world, I can assure you, gentleman, that Jains will be ever prepared to support the cause of world peace with all their moral strength of religion and philosophy. Surely Jain religion like other religions of the world possesses the all-embracing spirit of Catholicity, tolerance and trust, and it would never be found wanting in the work of uprooting the feelings of discontent, greed, selfishness hatred and bigotry from India and the world at large.

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

BĀHUBALI GOMMAṬESVARA

BY

K. P. Mitra, M.A., B.L.

I am giving here a legendary account of the incident that led to the adoption of the statuesque posture by Bāhubali, upon which the colossal statue has been modelled. Bāhubali was one of the sons of Lord Ṛṣabha, who was the first Tīrthaṅkara, the first king, and the first teacher of arts and sciences in the Avasarpiṇī cycle. Ṛṣabhadeva had two wives, Sumaṅgalā (*alias* Nandā), and Sunandā. The former brought forth the twins—Bharata, a boy and Brāhmī, a girl, and the latter, Bāhubali, a boy, and Sundarī, a girl. After reigning for many thousands of years at Vinīta (Ayodhyā) Ṛṣabhadeva left the world in quest of absolute knowledge. Before retiring, however, he crowned his eldest son, Bharata, as king of Ayodhyā, while he placed Bāhubali on the throne of Takṣaśilā. The other sons obtained the kingdoms of Baṅga, Aṅga, Magadha, Koṅkana, Kuṇāla, Kuntala, Avantī and various other countries. Ṛṣabhadeva observed the austerities, underwent the fast, and ultimately broke it with the juice of sugarcane offered to him by Śreyāṃsa, son of Somaprabha, son of Bāhubali, *viz.*, his great grandson. Maintaining silence he wandered through many lands, till after a thousand years of religious exercise, he exhausted his *ghāṭiya karman* and obtained *kevala jñāna* under a *vaṭa* or nyagrodha tree in the city of Purimatāla (or Purimātala) and was honoured by kings of gods who came and waited upon him with their whole retinue (*samavasaraṇa*). Two men—Jamaga and Samaga—came to king Bharata, the former informing him of the Lord's attainment of *kevala jñāna*, and the latter of the appearance of the jewel of a *cakra* (*cakkarayaṇaṃ*) in the royal armoury, which would enable him to conquer the earth (lit. *chakkhaṇḍa-mahī-pasāhaṇa-sahāyaṃ*). Infatuation insidiously creeping upon him, Bharata debated within himself, "Whom shall I worship first? My father, the Chief of saints or the wonderful discus?" Instantly did he perceive his delusion and

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

he said to himself, " How could I think like this ? Can there be any comparison between (lit. where is) my father, who grants *abhaya* (assurance, lit.. fearlessness) to the world, and the discus which is the instrument of destruction of living beings ? Fie on me, that through infatuation, did I think thus unreasonably. I will worship my father first."[1] With good sense thus dawning on him, Bharata mounted Marudevī on an elephant and proceeded with his fourfold army to do honour to Ṛṣabha. Then noting the splendour of *samavasaraṇa* he addressed Marudevī, " Mother, thou didst lament unto me heretofore that thy son abandoned the royal pleasure like a handful of grass and affliated with heat and cold, hunger and thirst, was roaming alone. But I said, ' Lament not, mother, no son of a mother hath that glory that thy son hath '. Thou hadst no faith in my words, now look, the very gods of the three worlds are celebrating the Lord's *samavasaraṇa.* They are singing and dancing " Marudevī became overwhelmed with joy at seeing the glory (*ṛddhi*) of her son as Tīrthaṅkara, and being deeply absorbed she became (even while seated on the elephant) an *antakṛt kevalī*··· Bharata left behind the royal insignia, entered the *samavasaraṇa,* circumambulated the Jina thrice, saluted him, sat in his own seat and listened to the following discourse of the Jina, " Rare indeed is this human birth ; knowing that indulgence in worldly pleasures brings about its harvest of pain, and that this life is fleeting, perform sage-like duties (*munidhammam*) for the attainment of liberation." Hearing this, five hundred of his sons beginning with Ṛṣabhasena and seven hundred grandsons, adopted *saṃyama* (restraint). Brāhmī and other daughters became female *sādhus,* Bharata and others became *śrāvakas.* Sundarī and others became Śrāvikās ... ... Bharata returned home and worshipped the discus, which instantly came out and proceeded towards the east, covering a *yojana* each day, followed by Bharata, the *cakkī* (the discus-bearer) with his army. In sixty thousand years the whole of Bhārata was conquered. Having returned home Bharata found that Sundarī had become wan and pale, her face had become lustreless and she looked thin

1. Tāyammi pūie Cakka pūiaṃ pūaṇāriho tāo.
Ihaloiaṃ tu cakkaṃ paraloasuhāvaho tāo.

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

like a streamlet in summer. Thereupon he reproved his men for their neglect of her. They however explained that she had become disgusted with the world and wanted to take *pabbajjā*, but was prevented by the Lord. Since then she has been following *āyambila*.[2] Knowing that she wanted to be ordained, Bharata gave her permission, and she was ordained by the Lord.

Then Bharata sent messengers to his brothers who were told, "If you want to reign, then worship the feet of Bharata." The brothers met for consultation and said, "Our father has divided his kingdom amongst us, giving Bharata and us our respective portions. But Bharata, out of pride, wants to make us his servants. Then what should do we do? Serve him or resist him in war? Very well, let us ask the Lord and then decide." At this time he was at the Aṣṭāpada hill. So they went to him. He advised, 'Serve only *dharma*, the sole bringer of good and happiness. War against the senses and win." Then he discoursed on *taṇhā* (thirst) which can never be assuaged by indulgence in worldly pleasures.[3] He said, "Ye have enjoyed heavenly pleasures for long, yet your thirst has not been slaked .....Now, it behoves you to be restrained for the attainment of imperishable happiness." On hearing this ninetyeight brothers accepted ordination at the hands of the Lord. When Bharata heard this from his messengers, he made their sons kings in those kingdoms.

Bharata was informed by Susena, his commander-in-chief, that the discus, although it had conquered all the directions (*disā-cakkaṃ*), was not entering the city. Bharata said, "Is there, up to this day, any hero who has not been conquered?" The minister replied, "There is no one who has not been conquered by you in war, but your younger brother, Bāhubali, whose mighty arms have suppressed the armies of his adversaries, still remains unwon; hence the *cakra* does not enter the city." Bharata sent an ambassador named Suvega to Bāhubali asking him to submit, but finding the latter

2 A kind of penance, *Anta* 32.

3, Tāhe iṅgāladāhakadittantaṃ kahei,

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

unyielding went with his fourfold army to conquer him. Bāhubali came out to meet him. The two armies met, like unto the eastern and the western oceans that transgressed their boundaries; there was a great fight and a great slaughter. The gods, *siddhas*, *yakṣas* and *vidyādharas* hovered in the sky, dreading an untimely end of the *kalpa* (cycle of existence). Noting this unnatural contest the gods addressed them, "Ye are the excellent sons of Ṛṣabha, the Lord of the three worlds, why are ye destroying lives in this fashion? Fight righteously (*uttama-juddheṇa* ..."[4] They assented, and fought with eyes, next with speech, with arms, fists and clubs (*diṭṭhi-girā-ṭāhu-laṭṭhīhiṃ*), in all of which Bharata was overcome by the mighter Bāhubali. Dejected, Bharata thought, "I wonder if I be a *cakrī*." Then the *cakra*, resplendent with rays, came upon the hand of Bharata, and was sent forth so that it might kill Bāhubali. But after circumambulating Bāhubali it returned to his hand, for it was powerless against one of the same kin. Then said Bāhubali, "Thou art proud because of this *cakra*, singlehandad can I crush thee, though armed with the *cakra*, but now, have I nothing to do with worldly objects, which thou art plundering; my brothers have forsaken their kingdoms and have taken the way indicated by father."[5] Then saying to himself, "Oh, the stream of the ever-developing universe subject to pleasures of sense and attachment" he pulled out his hair like grass. Then reflecting for a while what to do, he decided to stand there in statuesque posture intent upon gaining absolute knowledge. Bharata addressed him, "Unconquered art thou, but I have been conquered not only by thee, but by passions (*kasāyehi*, viz., anger, pride, deceit and greed), in that, impelled by greed of worldly objects, I am fighting." He then made obeisance to Bāhubali, and instituting the latter's son Somaprabha in the kingdom returned to his city.

4. According to another version, Bāhubali addressed Bharata,

"What is the use of killing innocent men, the fight is between you and me, let us fight by eyes etc."

5. Cf. also his speech, "Dhisidhisi purisattaṇaṃ te ahammajujjhapavattassa, alaṃ me bhogehi, geṇhāhi rajjaṃ pabbayāmi" tti mukkadaṇḍo pavvaiyo,

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

Bāhubali remained in that posture (*paḍimaṃ ṭhio*) for a year without food, and enduring cold and heat, wind and rain, and similar other hardships....." and the creepers wreathing round the boughs of the trees on the bank clung to his neck and crowned his head with their canopy and the blades of kuśa grass grew between his feet, and he became in appearance like an ant-hill."[6] Subsequently he obtained absolute knowledge.

In one version we find that he stood in the statuesque posture on the very field of battle for one year, when the Lord sent Brāhmī, Sundarī and other nuns who said, "One mounted on the shoulder of an elephant rarely obtains knowledge." Bāhubali reflected, "Pride is the elephant that I am riding. I am going to worship the Lord." As he raised his foot he attained *ḳevalajñāna*. In another version it is related that he went to the summit of the Kailāsa mountain and stood in that posture.

Bāhubali (also spelt Vāhuvali, Bāhubalī) was famous as having mighty and victorious arms with which he overcame his adversaries (*vivakḳha-bala-dalaṇa-bāhu-balo, dhṛta-jaya-ṭāhu*). He was also called Bhujavali (Bhujavalī) and Dorbalī, *i.e.*, one of mighty arms.

In inscription no. 85 *Epigraphia Carnatica* (Vol. II p. 67) he is described as the son of Puru (*Puru-sunu-Bāhubali*) and that "Bharata, the son of Puru Deva, surrounded by all the kings conquered by him, erected, in glee, an image, representing the victorious Bāhubali *ḳevalī*, which was 525 bows in height, near Podanpura. After a long time, innumerable *ḳukḳuṭa-sarpa*" (dragons having the body of fowl and the head and neck of a snake), terrifying the world, grew up in the place, surrounding (the image of) that Jina, for which the image became known as *ḳukḳuṭeśvara*." This story with slight variations occurs in the writings of later Jaina authors, *e.g.*, the *Ādipurāṇa* of Sakalakīrti, and *Bhujabalicarita* of Doddhiya (who says that Bharata put up a golden statue of Bhujabali which at one time became infested with *ḳukḳuṭa śarpas*),

6. *Āvaśyaka*...Tāhe saṃvaccharaṃ acchai kāyussageṇa, vallīvitāṇeṇam veḍhiyo pāyā ya vammīyaniggaehiṃ bhuyaṃgehiṃ.

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

and in Jain Kanarese literature, such as *Aditpurāṇa, Bharateśa-vaibhava, Bhujabaliśataka, Gommateśvaracarita, Rājāvalikathe* and *Sthalapurāṇa.*[7]

The sculptural representation of Bāhubali at Sravaṇa-Belgola, Karkala and Yenur, shows the ant-hills from which emerge serpents, and the creeper that twines round his legs and arms. "These details are identical in all three, and supposed to represent so rigid and complete an absorption in penance that ant-hills had been raised around his feet and plants had grown over his body, without disturbing the profoundness of the ascetic's abstraction from mundane affairs."[8]

Bāhubali obtained indeed a victory over his elder brother, Bharata, but this distressed him so greatly that he renounced all temporal power, and subjected himself to the severest austerities in the *kāyotsarga*[9] posture that gained for him the unique distinction of having "obtained omniscience in this Avasarpinī cycle in Bharata-kṣetra even before Lord Ṛṣabha,"[10] and thus presents an ideal of asceticism of unsurpassed sublimity. The huge image of him

7. *Jaina Antiquary,* Vol. III. No. III pp. 57 ff *Podanapura and Takṣasilī* by K P. Jain who says that the story of Bāhubali's victory over Bharata and his subsequent renunciation of the world (as narrated in this article of mine) is related by the authors of *Harivaṃśapurīṇa* (Sarga XI) and *Mahīpurāṇa* (Parva XXXV) who style the capital as Podana, and by Raviṣena, the author of P*admacarita* (Parva IV sls. 67-77) who styles it as Pautana. These and the other authors mentioned above say that Podanapura was the capital of Bāhubali Mr. Jain does not agree with the editor of *Bhavisayattakahā* (G.O.S. no XX) in his identification of Podanapura with Takṣas'ilā, and endeavours to show that it was somewhere in the northern border of South India. Mr. Govind Pai identifies it with Bodhan in the Nizam's territories.

8. Lewis Rice-*Inscriptions at Sravaṇa Belgola,* Introduction, p. 33.

9. The technical word for standing or statuesque posture of a Jaina image is *kāyotsarga.* See inscription no 2402 of Inscriptions published by the late P. C. Nahar-*Śrī Bāhubali-Mūrtih kāyotsargostha karita.*

10. But *contra* other versions noted above. In the *Āvaśyakasūtram* it has been related that according to some versions Marudevī was the first fo attain *kevalajñāna* (iha Bharahosappiṇie paḍhamasiddhottikāūṇa devehiṃ pūjā kayā...")

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

constructed by Raja Chamuṇḍa Rāya at Vindhyagiri reflects a serene expression of deep concentration. Mr. J. L Jaini in his introduction to *Gommatasāra-Jīvakāṇḍa* observes, "The grandeur of the image, as also its serene looking and peace inspiring presence, are all known to all Jainas and non-Jainas who have had the good fortune of visiting it. When I visited the sacred place in 1910, I met some English men and women missionaries, who out of respect for the Holy Image took off their shoes and visited it in their bare feet. They also held the opinion which I have given above. The image is about 57 feet high and still every limb and minor limb is in exquisite proportion." Unfortunately experts in art are not of the same opinion regarding proportion. Dr. M. H. Krishna, Director of Archaeology in Mysore, observes, "The image on the whole is a very successful piece of sculpture since the spirit of Jain renunciation is fully brought out in it. The naked figure shows absolute renunciation, while its stiff erect posture stands for perfect self-control and the benign smile on the face shows inward bliss and sympathy for the suffering world. But the image could come in for much criticism especially from the point of view of Anatomy," and he points out the defects. It should be borne in mind that statues were made according to the rules and conventions of the *Śilpaśāstra.* The sculptor and his patron were satisfied if the *śastra* was followed, and they did not mind the anatomy. Convention is given precedence over anatomy. Dr. Krishna remarks, "Convention and want of proportion are the two important defects in the figure while its merits are the sublime beauty of the face and the gigantic proportions of the colossal image."[11]

The statue is generally known as that of Gommata, Gommaṭa, Gommaṭasvāmī, or Gommaṭeśvara. Mr. Jaini thinks that the name Gāmmaṭeśvara or the "Lord of Gommaṭa" was given to it by Cōmuṇḍa Rāya who constructed it He was the minister and commander-in-chief of the great Gaṅga kings, Mārasiṃha II, and Rācamalla or Rājamalla II, and had many titles, e.g., *Raṇaraṅga-malla,*

11. *Proceedings of the Eighth All-India Oriental Conference,* pp. 690-91. *The Art of the Gomata Colossus.*

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

Ashyaparākṛāma, Guṇaratnabhūṣaṇa, Samyaktvaratna-nilaya, etc., [12] The inscription at the righthand slab at the foot of the image reads thus : —

Śrī-Cāmuṇḍarājaṃ māḍisidaṃ
Śrī-Cāmuṇḍarājan [se] Yv [v] ittāṇ.

The first line is in Kanarese, meaning " Srī-Cāmuṇḍarāja caused to be made," the second line is its Tamil translation, while the inscription on the left-hand slab, which reads,

Śrī—Cāmuṇḍarājeṃ Karaviyaleṃ.

is its Marathi translation.

Mr. Ghoshal thinks that the statue was established by Cāmuṇḍa Rāya between A.D 978 and 984, for though the latter mentions all his military exploits and explains in detail how he gained his numerous titles in his work, the *Cāmuṇḍa-Rāya Purāṇa*, which was completed in A. D. 978, he does not mention the erection of the monumental image, and Rācamalla's reign ended in A D. 984. On astronomical grounds he takes the date to be A. D. 980. Mr. Jaini takes the date to be 983, following the decision of Rao Bahadur R. Narasimhachar who brought out the revised edition of *Epigraphia Carnatica*, Vol. II (Inscriptions at Sravaṇa Belgola). Mr. Govinda Pai takes it to be 981. He says the prevailing notion is that the statue was named after Gommaṭa or Gommaṭa Rāya which was the other name of Cāmuṇḍa Rāya, since he was named so in *Gommaṭa-sāra* composed by Nemicandra Siddhānta-Cakravartī, [13] but this

12. Introduction to *Davva-saṃgaha* edited by S. C. Ghosal (S.B.J. series), pp. xx ff. Mr. Govind Pai says that he was the minister of Rakkasa Gaṅga (brother and successor of Rājamalla) as well.

13. See verses 966 to 972 of *Gommaṭa-sāra-karmakāṇḍa* and verse 734 of *Gommaṭasāra-Jīvakāṇḍa*.

Gommaṭa saṃgahasuttaṃ Gommatasiharuvaṅ Gommaṭa jiṇe ya ।
Gommaṭarāyaviṇimmiya dakkhiṇakukkuḍajiṇe jayau ॥
Jeṇa viṇimmiya-paḍima-vayaṇaṃ sabbaṭṭasiddhidevehiṃ ।
Sabbaparamohiyogihim diṭṭaṃ so Gommaṭa jayau ॥
—Karmakāṇḍa, vv. 968-69.

Ajjajjaseṇaguṇagaṇa samūhasaṃghāri Ajiyaseṇagurū ।
Bhūvaṇaguru jassa guru so rāyo Gommaṭa jayau ॥
—Jīvakāṇḍa, v. 734.

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

is wrong, in as much as neither in his work *Cāmuṇḍarāya-purāṇa*, nor in *Ajitapurāṇa* (a Kanarese work composed in A.D. 993 by poet Ranna, the protege of Cāmuṇḍa Rāya) is he called Gommaṭa or Gommaṭa-rāya. It is not that the image Gommaṭeśvara was named after Cāmuṇḍa Rāya *alias* Gommaṭa, but that Cāmuṇḍa Rāya was called Gommaṭa Rāya, because he erected the image of Bāhubali who was even before his time called Gommaṭa. Most probably it was Nemicandra who was the first to give the name of Gommaṭa to Cāmuṇḍa Rāya, as the latter erected the statue of Bāhubali who was for special reasons called Gommaṭa, a variation of Skt. Manmatha [Skt. Manmatha = Pkt. *Gammaha*, acc. to Kātāyana's *Prākṛta-mañjarī* 3·42 = Kannaḍa (*tadbhava*) *gammaṭa*, mēaning the Hindu god, Kāmadeva, and therefore 'beautiful'].[14] He substantiates his argument by saying that in works in Sanskrit, Prakrit and Kanarese languages Bāhubali was called the first Kāmadeva of this age, *e.g.*, in *Ādipurāṇa* (Skt, 16-9), *Ādipurāṇa* (Kanarese, by Pampa, 88·52-53) and in Sravana Belgola inscription no 234 (A.D.1180).[15] Mr. Ghosal (*op cit.*, intro. xxx ff.) says that in a Skt. work, *Vāhuvali Caritra*, it is narrated that when king Rājamalla (of Madhura) was sitting with his minister Chāmuṇḍa Rāja, " a travelling merchant came there and told them that in the north there is a town called Paudanapurī, where there is an image of Vāhuvali, also called Gommata, established by Bharata." In order to visit it Chāmuṇḍa Rāja accompanied by his mother proceeded and when he had reached the Vindhyagiri hill in Sravaṇa Belgola, he was advised in a dream by a goddess to shoot an arrow at the hill. When he did so, it cleft in twain and revealed the image of Vāhuvali, formerly established by Rāvaṇa. The story is repeated with variations in a recent Kanarese work named Rājāvali-kathe. There is a similar story in Sthalapurāṇa. All these are legendary in character, hence the attempt to make

14. This is how Mr. Pai derives *Gommaṭa*. The recognised Prākṭa form of *manmatha* is *mammaha* (see *Gāthā-saptaśatī*, 430, and *Abhijñāna-śakuntalaṃ*), or *vammaha*, but as to its being *gammaha*, the philologist is the authority.

15. Śrī-Jaina-Sidhanta Beaskara, 42 pp 102 ff.

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

Chāmuṇḍa Rāya the discoverer, and not the founder of the image on such weak a basis, cannot be regarded as successful.

The image of Gommaṭeśvara at Karkala was erected by Vīra-Pāṇḍya in A.D. 1432, and at Yenur by Timmarāja in A. D. 1604. Dr. Vincent Smith says that the three statues are " undoubtedly the most remarkable of the Jain statues and the largest free-standing statues in Asia...All three being set on the top of eminences are visible for miles round, and inspite of their formalism, command respectful attention by their enormous mass and expression of dignified serenity."[16] The image at Sravaṇa Belgola is 56½ ft high, that at Karkal is 15 ft. less in height, and that at Yenur is 35 ft high. " The extreme conventionallism of Jain art is well illustrated by the fact that, whereas all the three colossi are substantially identical, save for the smile at Yenur, the dates very widely. For fuller details of the statues at Karkala and Yenur see *Jaina-Siddhānta Bhāskara* 5-2-92ff and 5-4-234ff.

16. History of Fine Art in India and Ceylon, p. 268

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

"INDIAN CULTURE."

(JOURNAL OF THE INDIAN RESEARCH INSTITUTE)

A high class research quarterly in English on Indology, conducted under the distinguished editorship of Drs. D. R. Bhandirkar, B. M. Barua, B. C. Law, with a strong Advisory Committee, consisting of such eminent orientalists as Sir D. B Jayatilaka, Drs. S. N. Das Gupta, Laksman Sarup, Radhakumud Mukerjee, P. K. Acharya, MMs. Kuppuswami Sastri, Gananath Sen, and others, each of whom represents a particular section of Indian Culture.

It deals with all the branches of Indian Culture-Vedas, Philosophy, Buddhism, Jainism, Zoroastrianism, Ancient Indian Politics and Sociology, Indian Positive Sciences, History, Archaeology, Dravidian Culture, etc. Among the contributors are the best orientalists of India and foreign lands including Drs. Sir B. N. Seal, Sir, A. B. Keith, Drs. Winternitz, Otto Schrader, Otto Stein, R. C. Mazumdar, P. K Acharya, etc.

Indispensable for every lover of Indology. A most attractive get up and printing. Each issue contains about 200 pages. Price very moderately fixed Rs. 6 or Sh. 10 per annum (including postage)

Among the other publications of the Institute, which aims at wide propagation of Ancient Indian Culture and Wisdom by publication of the best products of Ancient Literature under various Series-Vedic, Buddhistic, Jain, etc., are :—

(1) An encyclopaedic edition of the Rigveda with texts, commentaries and translations with elaborate research note in English, Bengali and Hindi,

(2) Gaya and Buddha Gaya, 2 Vols. Rs. 12.

(3) Barhut, 3 Vols. Rs. 27.

(4) Upavana Vinoda (a Sanskrit treatise on Arbori Horticulture), etc., etc., Rs. 2-8.

(5) Vangiya Mahakosa (each part), As. 8.

(6) Books of the Buddhistic Series.

For further particulars, please apply to :

The Hony. General Secretary,
The Indian Research Institute.
170 Maniktala Street.
Calcutta, (India.)

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

RULES.

1. The 'Jaina Antiquary' is an Anglo quarterly, which is issued annually in four parts, *i.e*, in June, September, December and March.

2. The inland subscription is Rs. 4 (including 'Jain Siddhanta Bhaskara') and foreign subscription is 6 shillings (including postage) per annum, payable in advance. Specimen copy will be sent on receipt of Rs. 1-4-0

3. Only the literary and other descent advertisements will be accepted for publication. The rates of charges may be ascertained on application to

THE MANAGER,
The "Jaina Antiquary"
Jaina Siddhanta Bhavana, Arrah (India).

to whom all remittances should be made.

4. Any change of address should also be intimated to him promptly.

5. In case of non-receipt of the journal within a fortnight from the approximate date of publication, the office should be informed at-once.

6. The journal deals with topics relating to Jaina history, geography, art, archæology, iconography, epigraphy, numismatics, religion, literature, philosophy, ethnology, folklore, etc., from the earliest times to the modern period.

7. Contributors are requested to send articles, notes, etc , type-written, and addressed to,

K. P. JAIN, Esq. M. R. A. S.,
EDITOR, "JAINA ANTIQUARY"
Aliganj, Dist. Etah (India).

8. The Editors reserve to themselves the right of accepting or rejecting the whole or portions of the articles, notes, etc.

9. The rejected contributions are not returned to senders if postage is not paid.

10. Two copies of every publication meant for review should be sent to the office of the journal at Arrah (India).

11. The following are the editors of the journal, who work honorarily simply with a view to foster and promote the cause of Jainology :—

PROF. HIRALAL JAIN, M.A., L.L.B.
PROF. A. N. UPADHYE, M.A , D.Litt.
B. KAMATA PRASAD JAIN, M.R.A.S.
PT. K. BHUJABALI SHASTRI, VIDYABHUSANA.

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

जैन-सिद्धान्त-भवन आरा की प्रकाशित पुस्तकें

(१) मुनिसुव्रतकाव्य (चरित्र) संस्कृत और भाषा-टीका-सहित ... २।)
(मू० कम कर दिया गया है)

(२) ज्ञानप्रदीपिका तथा सामुद्रिक-शास्त्र भाषा-टीका-सहित ... १)

(३) प्रतिमा-लेख-संग्रह ... ... ॥)

(४) जैन-सिद्धान्त-भास्कर, १म भाग की १म, २य तथा ३य किरणें ... २।)

(५) " २य भाग ... ४)

(६) " ३य " ... ४)

(७) " ४र्थ " ... ४)

(८) " ५म " ... ४)

(९) " ६म " ... ४)

(१०) भवन के संगृहीत संस्कृत, प्राकृत, हिन्दी ग्रन्थों की पुरानी सूची ... ॥)
(यह अर्ध मूल्य है)

(११) भवन की संगृहित अंग्रेजी पुस्तकों की नयी सूची ... ॥।)

प्राप्ति-स्थान—
जैन-सिद्धान्त-भवन, आरा (बिहार)

PRINTED BY D. K. JAIN, SHREE SARASWATI PRINTING WORKS, LTD., ARRAH.

Ac. Gunratnasuri M.S. Jin Gun Aradhak Trust